http://www.jainkosh.org

परीक्षामुखसूत्र प्रवचन

भाग-6

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

सहजानन्द शास्त्रमाला

परीक्षामुख सूत्र प्रवचन

(५, ६, ७ भाग)

प्रवक्ता :—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
श्री मनोहर जी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रबन्ध सम्पादक :—
बैजनाथ जैन,
सदस्य स० शा०
यादगार बड़तला, सहारनपुर

प्रकाशक :—
खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए रणजीतपुरी सदर मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परीक्षामुखसूत्रप्रवचन

[षष्ठ भाग]

●

स्वपर निर्णायक ज्ञानका प्रमाणत्व—प्रमाणके स्वरूपमें यह व्यवस्था बतायी गयी कि प्रमाण ज्ञान होता है और वही ज्ञान प्रमाण होता है जो ज्ञान स्वयं का और अन्य पदार्थोंका निश्चय करने वाला होता है। पदार्थोंका ज्ञान करे यह तो ज्ञानमें है ही बात, अन्यथा ज्ञान नाम किसका ? जानकारीका अर्थ ही क्या ? बाह्य पदार्थ जाननेमें आये तो ज्ञानका रूपक बनता है, पर इसके साथ ही साथ ज्ञानमें ऐसी कला है कि वह स्वयंका भी निश्चय करता है यों ज्ञान स्व और पदार्थोंका निर्णय करने वाला हैं।

यहाँ ज्ञानकी स्व व्यवसायिताके सम्बन्धमें यह प्रश्न रखा जा रहा है कि ज्ञान द्वारा अपने आपको प्रत्यक्ष नहीं कर पाता क्योंकि ज्ञान कर्म नहीं है। शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि ज्ञानका रूपक बनता इसी प्रकार है जैसे कोई कहे कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ। तो यहाँ मैं तो कर्ता हूं, ज्ञानसे यह करण है, चौकीको यह कर्म है, जानता हूँ यह क्रिया है। वाक्योंमें कर्ता कर्म करण कार्य हुआ करता है ना। कर्ता और क्रिया ये तो प्रत्येक वाक्यमें होते हो हैं। इनसे कम तो कुछ होता ही नहीं है। पर और लम्बे वाक्य रहें तो उनमें कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये भी हुआ करते।

ज्ञानके स्वव्यवसायिताका निर्णय—यहाँ जाननेके प्रकरणमें चार बातें होती ही हैं कर्ता, कर्म, करण और क्रिया। ज्ञान जब कुछ जानता है तो उसका रूपक इन चार रूपोंमें बनता ही है। तो शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि प्रत्यक्ष तो केवल पदार्थ है। जिसको जाना वह स्पष्ट होता, शेष कोई स्पष्ट नही होते अथवा कोई मानता है कि कर्ता भी स्पष्ट हो जाता है; मैं जानता हूँ, पर ज्ञानसे जानता हूँ; यहाँ जो करण ज्ञान हैं साधन; जिसके द्वारा जाना गया वह प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। यह शङ्का का अभिप्राय है।

ज्ञानको प्रत्यक्ष माननेपर आपत्ति—अब शङ्काके विवरणमें अपना पक्ष रख रहा है शङ्काकार कि ज्ञानको यदि प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो पदार्थकी तरह ज्ञान कर्म बन जायगा। जैसे मैं चौकीको जानता हूँ, इसमें स्पष्ट हो रही है ना चौकी।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तो यह कर्म है इस कारण स्पष्ट होता रहता यों ही यदि ज्ञान स्पष्ट हो जाय तो ज्ञान भी कर्म बन बैठेगा करण न रहेगा। तब जैसा पदार्थ भी कर्म बना और जिस ज्ञानसे जाना वह ज्ञान भी कर्म बन गया तो फिर इसका कोई कारण बतलावो जिसके द्वारा जाना गया यह कह सकें। जो कुछ भी अन्य ज्ञानको करण बतावोगे तो उसका भी प्रत्यक्ष बना तो वह भी कर्म हुआ। अब तीसरा कर्म ज्ञानान्तर बनावें। यों अनवस्था आ जाती है। यदि अन्य कारणोंसे अप्रत्यक्ष होनेसे करण मान लेते हैं तो प्रथक ज्ञानको करण मानें। अप्रत्यक्ष माननेमें कौनसा ऐब है? ये सब बातें शङ्काकार मान रहे हैं कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ इतने अंशमें स्पष्टता चौकीकी होती है ज्ञानकी नहीं होती क्योंकि ज्ञान है करण और चौकीको यह है कर्म। तो कर्म ही स्पष्ट होता है। कर्म और करण न्यारी न्यारी बातें हैं। ज्ञान ही कर्म बन जाय यह नहीं बन सकता, क्योंकि और जगह भी तो कर्म और करण जुदा नजर आता है। जैसे कोई कहे कि कुम्हार दंड, चक्र, आदिकसे घड़ा बना है तो दड चक्र ये तो हुए साधन जिनके द्वारा बनाया गया और कर्म हुआ घड़ा। तो कर्म और करण न्यारी–न्यारी बातें हैं ना, एक न हो जायेंगी। इसी प्रकार चौकी जानी गयी, यह कर्म है और ज्ञानसे जाना यह करण है, यह बात तो सही है पर वही ज्ञान कर्म बन जाय, वही करण हो जाय यह नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो घड़ा और दण्डचक्र ये भी एक बन बैठें ऐसा पूर्व पक्षकार शङ्का कर रहे हैं। उनके समाधानमें अ। यह ८ वाँ सूत्र कहा जा रहा है और उसीके हेतुमें ९ वाँ सूत्र कहा जा रहा है।

घटमहमात्मना वेद्मीति ॥ ८ ॥

कर्मवत् कर्तृ करणक्रियाप्रतीतेः ॥ ९ ॥

कर्मवत् कर्तृ करण क्रियाकी प्रतीति - मैं अपने द्वारा घड़ेको जानता हूँ, इसमें जैसे कर्मकी प्रतीति हुई है, घड़ेको जानता हूँ, इसी प्रकार यह भी प्रतीति हुई कि मैं जानता हूँ, ज्ञानसे जानता हूँ। जानता हूँ ये सभी बातें तो हमारे ज्ञानमें आ रही हैं। केवल कर्म ही हुआ तो प्रत्यक्ष बन सके यह बात ठीक नहीं है क्योंकि फिर आत्मा आत्मा भी प्रत्यक्ष न रहेगा, जिस कारण हमारी जानकारीमें स्पष्ट नहीं है क्योंकि करण नहीं है तो यह मैं आत्मा भी तो कर्म नहीं हुआ, तो यह भी स्पष्ट न रहेगा। यहाँ शंकाकार आत्माको तो मानते हैं कि प्रत्यक्ष है और पदार्थको भी मानते कि इसका प्रत्यक्ष हो रहा पर ज्ञानको नहीं माना। ज्ञानको अस्वसम्वेदी माना, तो ज्ञान खुदको नहीं जानता और खुदका उसमें कोई स्पष्टीकरण नहीं है। यहाँ सिद्धान्तकी बात इतनी पहिले समझ लीजिये कि जब हम यह जानते हैं कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ तो इस प्रक्रियामें सबकी सब बातें हमारी जानकारीमें स्पष्ट बनती हैं। मैं जानता हूँ यह भी अच्छी तरहसे ज्ञात हो जाता है। मैं अपने द्वारा जानता हूँ, ज्ञानसे ही जानता हूँ यह मी स्पष्ट है। चौकीको जानता हूँ यह भी स्पष्ट है, जान रहा हूँ यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी स्पष्ट है तो प्रतिभास कर्मरूपमें ही आया तो स्पष्ट हो यह नियम नहीं है। कर्तारूप से भी प्रतिभास हुआ, करणरूपसे भी प्रतिभास हुआ, वह सब स्पष्ट होता है। देखिये, यह सब कथन अपने आप हमारे आपके चल रही है। कोई ऊँची बात बाहरकी नहीं कही जा रही है। हम आप ज्ञानस्वरूप हैं निरन्तर जानते रहते हैं तो यह जानन कैसे हुआ करता है ? और हम जानने वाले क्या हैं ? इसकी ही चर्चा है इसमें । कोई परोक्षभूत अट्ट सट्ट यहाँ वहाँकी चर्चा नहीं है। ध्यानपूर्वक अपने आपकी और दृष्टि रखकर बाहरकी चिन्तायें छोड़कर सावधानीसे सुना जाय, मनन किया जाय तो सब बातें स्पष्ट होती चली जाती हैं। यहाँ सिद्धान्त यह बताया जा रहा है कि जानकारी के समयमें जो जाननेवाला है वह भी जाननेवालेको स्पष्ट है। जिसको जाना जा रहा है वह पदार्थ भी प्रतिभासमें आ रहा है। जिस ज्ञानसे जिस श्रमसे, जिस पदार्थसे जाना जा रहा है वह ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासमें आता है और जान रहा हो ऐसी क्रिया भी उसके प्रतिभासमें हैं या यों समझ लीजिए कि सभी ये ज्ञानकी स्थितियाँ हैं।

स्वपरको जाननेमें मात्र आत्मा ही समर्थ – यह मैं आत्मा हूँ सो ज्ञानमय ही तो हुआ और जिससे जाना है वह भी तो मेरा स्वरूप है और जो जाननेकी क्रिया बन रही है वह भी तो मेरी ही परिणति है। ये कोई जुदी जुदी चीजें नहीं हैं, बल्कि अध्यात्म दृष्टिसे देखिये तो यह आत्मा जानता भी खुदको ही है, पदार्थोंको साक्षात् नहीं जानता। पदार्थोंको जानता है यह व्यवहार तो है मगर साक्षात् कर्ममें, जाननेकी क्रियामें यह आत्मा खुद ही है। पदार्थ साक्षात् कर्म नहीं है। पर साक्षात् कर्म नहीं है, पर साक्षात् कर्म जो यह मैं आत्मा हूँ और वह जिस प्रकारसे इस ज्ञानमें लाना गया है वह किसी अर्थाकाररूपसे परिणत हुआ ज्ञान जाना गया है। तो चूँकि इस ज्ञानका विषय चौकी आदिक पदार्थ पड़ा है इस कारण हम यह उपचारसे कहते हैं कि मैं चौकीको जानता हूँ। निश्चयदृष्टिसे अनेक अपनेको ही करते हैं, अपने व्यापारसे करते हैं। कोई भिन्न कर्म नहीं और भिन्न करण नहीं, इस दृष्टिसे निहारें तो सर्वत्र आपको यह अभिन्नता मालूम होगी। व्यवहारमें तो हम अनेक बातें कहा करते हैं जैसे दोपहरके समय दिनमें किसी पुरुषकी जो छाया पड़ती है मैदानमें तो यह कहा करते हैं ना कि यह पुरुषकी छाया हैं, पर पुरुषका जो कुछ है वह पुरुषके शरीर में ही समाया हुआ है, पुरुषके शरीरसे बाहर नहीं है। छाया क्या पुरुषके शरीरमें समायी है या पुरुषके शरीरसे अलग जमीनपर है ? जमीनपर है तो वह छाया परिणमन पुरुषका नहीं हैं किन्तु जमीनका परिणमन है। वहाँ पुरुष निमित्त कारण है, आश्रयभूत है, निश्चयदृष्टिसे कुछ निर्णयकी बात कही जा रही है।

समझने समझानेमें ज्ञानका ही महत्त्व – इस प्रसङ्गमें कोई वक्ता उपदेश करता है श्रोतागण सुनते हैं, समझते हैं तो व्यवहार यह है कि अमुक विद्वान् लोगों को समझा रहा है। लेकिन निश्चयदृष्टिसे निहारिये कि विद्वान क्या लोगोंको समझा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहा है ! नहीं, लोग समझ रहे हैं अपने परिणमनसे। उसमें विद्वान् क्या करेगा ? कोई अज्ञान श्रोता हो, न समझे तो उसे विद्वाए क्या समझा देगा ? विद्वान तो अपनी इच्छाके अनुकुल कल्पनाएँ करेगा, इच्छा, कृपा जिस प्रकारका भी भाव होता है उस भावका निमित्त पाकर उसके आत्मामें उसका योग चला है। उस योगके निमित्तसे शरीरमें उस प्रकारकी वायु चली। और उस वायुसे प्रेरित होकर जीभ, ओंठ वगैरह चले। उस निमित्तमें ये शब्दवर्गणायें अमुक अमुक शब्दरूप परिणमीं। इन सब बातों में ज्ञान इच्छा प्रयत्न ये सब कारण पड़ रहे हैं किन्तु विद्वानने जो कुछ किया है वह अपने आपके आत्मामें किया है दूसरेका कुछ नहीं किया। कहा यह ला रहा है कि निश्चयदृष्टिसे प्रत्येक पदार्थ अपने आपका कर्ता है कुछ भी करे तो इसी तरह निश्चयसे यहाँ हम अपने आपको जानते हैं, घट आदिक पदार्थोंको नहीं जानते। तब जो यह कहा है शंकाकारने कि जो करण बनता है वह कर्म नहीं बनता यह बात तो नहीं रही। निश्चयसे तो वही पदार्थ अपने कामके लिये करण भी है, कर्म भी है, कर्ता भी है और फिर दो प्रकारके प्रसङ्ग होते हैं करण होता है एक ज्ञायक और एक कारक ज्ञायकका अर्थ है- ज्ञान करना कराना और कारकका अर्थ एक ज्ञान क्रियाको छोड़ कर बाकी जो परिणतियाँ होती हैं उनमें कारक कारण है। इन दोनोंमें फर्क है। कारकमें तो जो कारण है वह ज्ञात न हो तो भी काम करता है, पर ज्ञापकमें जो करण है ज्ञान वह ज्ञान न हो तो काम नहीं बन सकता। जैसे हम चले जा रहे हैं या पीछे पैर हटाया और अग्निपर पैर पड़ गया तो अग्नि जला ही देगी। न भी कभी ज्ञानमें आये, अज्ञात है वह करण पर वह है कारकरूप करण ! लेकिन जानकारियाँ जितनी होंगी उन सब जानकारियोंको करने वाला जो ज्ञान है वह ज्ञान हमारे उपयोग में स्पष्ट प्रतिभासित रहेगा . तो ज्ञायक कारण अज्ञात होकर नहीं बनता। अन्य-अन्य तो अज्ञात होकर बनते हैं।

अज्ञानीकी विपरीत मान्यता—यहाँ अपने ज्ञानकी चर्चा चल रही है कि हम जो ज्ञान करते हैं वह किस ढंगका करते हैं कितना हमारा महान ऐश्वर्य हैं कितना हम स्वाधीन हैं अपने कार्योंके करनेमें। मोही अज्ञानी पुरुषोंने यह मान रखा है कि मैं घर चलाता हूँ। दूकान करता हूं, व्यवसाय करता हूं अमुकको पालता हूं और इस मान्यतासे जो बात घटती है जो प्रसङ्ग आते हैं वे सब पराधीनताके आते हैं और इसी कारण बहुत बहुत इस बीचमें परेशानी भी होना पड़ता है और इसी परेशानीसे हम भिन्न-भिन्न रूपोंसे इन सब साधनोंके मांन रहे हैं, पर यह दृष्टि नहीं गयी कि यह मैं आत्मा केवल जानने भरका काम किया करता हूं, जब मैं रागद्वेष भावोंसे बिगड़ भी जाता हूं और वहाँ बहुतसे वैभवोंका संचय करना, अनिष्टका बिगाड़ करना, किसी चीजका विनाश करना, किसी चीजको प्रीतिसे रखाना अनेक बातें होती रहती हैं वहाँ पर भी ये सब कुछ नहीं किए जा रहे, केवल अपने ज्ञानका परिणमन किया जा रहा है। कल्पनारूपसे, विकृत रूपसे एक ज्ञानको पकड़ा जा रहा है, चीजमें कुछ नहीं किया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जा रहा है यह दृष्टि नहीं पहुंचती और चाहे हम अपने बिगाड़का ज्ञान बनायें चाहे अपने सुधारका ज्ञान बनायें, बनाते तो हम ही हैं ना। अपने द्वारा बनाते हैं। इसमें पराधीनता नहीं है हाँ पराधीनता है तो वह निमित्तरूपसे है, पर, पर किसीके आधीन हम एक साक्षात् हो जायें उपादानतया हो जायें यह बात नहीं बनती। पदार्थका जैसा स्वरूप है वह दृष्टिमें आ जाय तो फिर इस जीवको क्लेश ही न रहेगा।

दुर्लभ मनुष्यजन्मके कर्तव्य— अनन्त कुयोनियोंमें भ्रमण करके आज यह मनुष्य पर्यायमें आया है इस पर्यायमें आकर वास्तवमें करने योग्य काम क्या है इसका भली प्रकार निर्णय रखना चाहिए अनादिकालकी अविद्याकी वासनासे प्रेरित होकर जैसा मनने चाहा वैसा हीं अपने हितके लिये निर्णय बनायें वह तो आत्माके हितमें न होगा तपश्चरण वास्तविक यही है। अपनी अन्तर्वृत्तिको निर्मल स्वच्छ बनायें। अपने आपको सबसे न्यारा देखें। जैसे जलमें रहते हुए भी कमल जलसे भिन्न है इसी प्रकार समागमोंमें रहते हुए भी आत्मा समागमोंसे भिन्न रहे ऐसी वृत्ति बने तो हितका उपाय बनेगा। देखिये कमल जलसे ही तो उत्पन्न होता और जलमें न रहे तो कमल सुख भी जायगा, उसका पोषण भी जलसे ही हो रहा है इतनेपर भी कमल यदि जलमें आ जाय, जलसे ऊपर न रहे तो भी वह सड़ जायगा। जलसे कमल अपना पोषण उतना ही लेता है जितना चाहिए। और वह जलसे ऊपर शेस उठा रहता है, जलमें मिलता नहीं। जलमें लीन नहीं होता। जलमें लीन हो जाय तो कमल नष्ट हो जायगा इसी तरह गृहस्थ भी घरमें ही उत्पन्न होता है, उन परिजनोंमें ही पल रहा है। वहींसे पोषण मिल रहा है। यदि गृहस्थ घर बार छोड़ दे, पागलोंकी नाई फिरे तो बरबाद होगा कि नहीं। गृहस्थ रहता हुआ घरको बिल्कुल अव्यवस्थित बना दे तो उसे लोग पागल कहेंगे। फिर रहता क्यों घरमें ? और यदि वह घरमें ही लीन हो जाय, जैसे कि कमल जो ऊपर प्रफुल्लित फूला हुआ है वह अपनी ऊँची जगह छोड़कर पानीमें ही आ जाय तो भी कमल सड़ जायगा।

पर पदार्थमें आशक्तिसे अनेक दुःखोंका जन्म—इसी प्रकार गृहस्थ यदि घरमें ही लीन हो जाय तो दुःखी होगा, बरबाद होगा। तो जलसे भिन्न कमलकी उपमा गृहस्थके लिए कई दृष्टियोंसे फिर बैठती है। तत्त्वज्ञान हो तो परिस्थितिवश घर भी रहना पड़े फिर भी यह घरसे निर्मल अपने आपका अनुभव कर सकता है, इस ही में हित है। अनन्त कुयोनियोंकी भाँति यदि अब भी आहार, संज्ञा, भय, मैथुन परिग्रह चार संज्ञावोंके ज्वरसे पीड़ित बने रहें और उस पीड़ाको शान्त करनेके लिए इन्हीं संज्ञावोंकी चिकित्सा करें, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहका प्रयोग करें तो इसमें आत्मा की पूरी बरबादी है और जिस आत्मदेवका प्रसाद पाकर आज मनुष्य हुए हैं। कुछ पुण्यवत्ता मिली है, यदि हम इस ही आत्मदेवपर प्रहार करें विषय कषायोंमें लीन होकर, तो क्या गति होगी ? जो गति पहिले थी निगोदकी वह होगी। जो हम आप

का इस मनुष्य गतिमें कितना अधिक उत्तर दायित्व है इसका भान करें। यह भव एक ऐसी स्थितिमें है कि हम अपने आपको चाहे प्रयत्न करें तो संसारके संकटोंसे सदाके लिये छुटकारा पा सकते हैं और यहीं प्रमाद करें तो जैसे अब तक संसारमें रुलते चले आये हैं इसी प्रकार रुलते चले जानेका ठेका भी बना सकते हैं।

पर पदार्थोंकी संग्रहकी भावना ही दुःखोंका मूल बड़ी जिम्मेदारीका यह मनुष्यभव है। इसे यों ही परिग्रहकी लालसावोंमें विषय कषायोंके विकारोंमें अपने आपको फसा दिया तो यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। देखिये ! लोग कहते हैं कि सस्ती चीज आखिर बहुत मँहगी पड़ती है। बाजारसे कोई सस्ती चीज अंगूर या सेब वगैरह ले आये तो वे किसी कामके नहीं रहते। कोई सेब तो मिलते हैं १॥ रु० किलो और कोई मिलते हैं ८ रु० किलो। तो ८ रु० किलोकी चीज १ छटाँक लेकर खा ले तो वह तो खाने योग्य है पर १॥ रु० के एक किलो वाले सेब खाने योग्य न रहेंगे। इसीसे तो लोग कहते हैं कि सस्ती चीज पूरी मँहगी पड़ती है। तो हम आप सबने यह दुर्लभ मनुष्यभव पाया है, कुछ पुण्यका उदय भी है और यहाँ भोग उपभोग के साधन मिले हैं ये सब भोग बड़े सस्ते लग रहे हैं, ये आखिर कितने मँहगे पड़ेंगे ? न जाने कैसी गति मिलेगी ? कहाँ भटकना होगा ? कैसी स्थितिमें रहेंगे ? सारी बरबादी ही रहेगी। अपने आपके भीतर समझ बनायें और धर्मके आयतनमें अपना अनुराग बढ़ायें, बाह्य अर्थोंकी उपेक्षा करें, इससे ही आत्महितका मार्ग मिलेगा।

ज्ञानके स्वरूपकी सिद्धि—ज्ञानके स्वरूपकी चर्चा चल रही है कि यह ज्ञान परपदार्थोंका तो परिज्ञान करता ही है, स्वका भी परिज्ञान करता है और केवल इतनी ही बात नहीं है कि ज्ञानसे ही प्रतीति होती, उसके साथ जो जाननहार आत्मा है उसकी भी प्रतीति रहती है, जिस पदार्थको जाना है उसकी भी प्रतीति रहती है। जिस स्वरूपसे ज्ञानको जाना जाता है उसकी भी प्रतीति रहती है और जानन क्रिया की भी प्रतीति रहती है। केवल जो कर्मरूपसे प्रतिभासमें आया, वही प्रत्यक्ष है ऐसा नहीं। पदार्थका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष है, आत्माका कर्तारूपसे प्रत्यक्ष है, ज्ञानका कर्मरूपसे प्रत्यक्ष है और जानन क्रियाका क्रियारूपसे प्रत्यक्ष है। जब अन्तरमें दृष्टि डाली जाती है तब ये सब लीलायें विदित होती हैं। मैं क्या हूँ, किस रूप हूँ, सबका सब स्पष्ट भान होता है और ऐसा भान होना अन्तरदृष्टि दे करके यह तो है अध्यात्म मार्गका विलास लेकिन अध्यात्म पथसे भी पूरा न देखो, दर्शनशास्त्रकीद दृष्टिसे देखो तो युक्तियों में फिर यह सिद्ध है कि ज्ञान करणरूपसे प्रत्यक्ष होता है। इस शैलीसे ही ज्ञानका रूपक बनता कि मैं ज्ञानके द्वारा घट आदिक पदार्थोंको जानता हूँ। शायद यह कहो कि आत्माकी तो प्रत्यक्षता हो जायगी, क्योंकि वह कर्ता है पर करणभूत जो ज्ञान है चूंकि वह करण है, साधन हैं इस कारण उसका प्रत्यक्ष न होगा कि चलो आत्माको तो प्रत्यक्ष माना, फिर जैसे वह आत्मा अपने आपके स्वरूपको जानता है इसी प्रकार

बाह्य अर्थोंको भी यह आत्मा जानता है यों मान लिया, फिर बीचमें परोक्ष ज्ञानकी कल्पनासे क्या लाभ है ? यह अस्वसम्वेग ज्ञान मानने वाला सैंद्धान्तिक ज्ञान सर्वथा परोक्ष ही माना हैं, पर बात वहाँ कुछ अलग अलग तो नहीं है।

ज्ञानपरिणति द्वारा ज्ञानमय क्रियाकी संभवता—ज्ञानमय आत्मा ज्ञानमय वृत्ति है, ज्ञानमय परिणतिसे ही ज्ञानमयकी क्रिया है तो वहाँ सब कुछ कर्ता करण क्रिया सभी स्पष्ट हैं। एक स्पष्ट है कुछ भी चीज तो सभी स्पष्ट है, इतनी विचित्रता की बात लोकमें हो रही है कि विरले विवेकियोंको छोड़कर शेष समस्त यह तीन लोक अपने आपकी बातको समझनेमें परेशानी अनुभव करता है और जगतके बाह्य पदार्थोंसे यहाँ वहाँके पदार्थ समूहको जाननेमें बड़ी सुगमता समझता है जाननेमें, उस का परिचय पानेमें, तो जैसे हमारा आत्मा हमारी प्रतीतिमें आता है कि मैं जानता हूं।

आत्माके वैशिष्टयकी सिद्धि—इसी प्रकार मैं ज्ञानके द्वारा जानता हूं यह विधि भी प्रतीतिमें आती है। जब आामा ही जानने वाला हो तो आत्माकी ये दो विशेषतायें होंगी कि अपनेको भी जाने और परको भी जाने। करण भेद ज्ञान कोई आत्मासे भिन्न बात नहीं है, फिर परोक्षज्ञान कल्पनासे लाभ क्या ? यदि ऐसा बतावोगे कि साधनके बिना कर्ताका क्रियाव्यापार नहीं हुआ करता। जैसे देवदत्त कुल्हाड़ी से काठको काटता है तो तो काटने योग्य कर्मका व्यवहार देवदत्त कुल्हाड़ीके बिना नहीं कर सकता। इसी तरह मैं घटको जानता हूँ तो जानन क्रियाका व्यापार किसी क्रियाके बिना नहीं बन सकता अतएव करण माननेकी आवश्यकता है। यह भी आपका कहना यों ठीक नहीं, आखिर मन और इन्द्रिय तो अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग करण हे, वह भी परोक्ष हे, फिर अन्य ज्ञान परोक्षकी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? वह कर्ता है, आत्मा जानता है और उसमें यदि कहें कि सिद्धान्तकी जरूरत हो तो मन है और इन्द्रिय है। यदि कहो कि मन इन्द्रिय चेतन है, केवल चैतन्य करण प्रधान होगा तो जो भी चैतन्य होगा वह चैतन्यसे अभिन्न है, उसे समझनेके लिए एक करण बना लिया। जैसे कहा जाय कि साँप जब गोल मटोल बन जाता है तो उसमें कर्म क्या हे ? घन क्या है ? किसी दूसरेने बनाया क्या ? और वह अपने आपके परिणमनसे इस प्रकार कलाकार बन गया। ऐसा आत्मा जब कुछ जानता है तो उस जाननेके लिए कोई नये भिन्न परोक्ष ज्ञानके सम्बन्धकी जरूरत है क्या ? आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। जब जानता है तो अपने आपके परिणमनसे जान लेते हैं। देखिये अपने आपमें अपने इस अद्वैत आत्माको ब्रह्मको देखियेगा।

प्रत्येक द्रव्यकी सिद्धि स्वरूपसे ही—समस्त पदार्थ अद्वैत हैं। सब मिल कर एक नहीं किन्तु जितने भी पदार्थ हैं वे सब अहने अपने स्वरूपमें किसी दूसरेका सम्बन्ध नहीं हैं, इस कारण प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अद्वैत हैं, सारा पदार्थ सारा जीव लोक, सारा चराचर समस्त अद्वैत है। यह बात ठीक नहीं, किन्तु प्रत्येक एक

एक पदार्थ अपने आपके स्वरूपमें केवल है, अद्वैत है, अब जरा केवल अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि करके सोचिये तो सही क्या होगा यहाँ ? बहुत बहुत त्रुटियोंसे भी क्यों समय खोया ? जो बात खुदकी है, खुदमें है, खुदके देखनेसे जानी जा सकती है तो जरा दृष्टि डालें और जान जाये कि मैं क्या हूं, कैसास्पष्ट हूं, किस रूप हूं, उसके लिये अनेक श्रम क्या करना ? विदित हो जायगा कि यह मैं क्या हूं। देखिये आत्मनिधि को बाधा देने वाला है विषय कषायका परिणाम। हम आप सब परिपूर्ण हैं, अपने परिपूर्ण स्वरूपका बोध न होनेसे बाह्य पदार्थोंकी आशा कर करके हम अधूरे बनते जा रहे हैं कल्पनामें। इसपर भी पूर्ण हैं। कुछ लोग ऐसा सिद्धान्त रखते हैं कि वह पूर्ण है यह पूर्ण है। देखिये संस्कृत भाषामें जितने ही शब्दोंके ऐसे मर्म होते हैं कि किसी किसीका मर्म बतानेके लिए हिन्दीमें शब्द नहीं होते। बड़ी कठिनाई होती है – इदं और अदः इन दोनों शब्दोंमें क्या अन्तर है ? यों तो दोनोंका अर्थ यह है पर अदः के यह अर्थमें और इदंके यह अर्थमें कुछ अन्तर है, किसी अन्तपर कुछ दृष्टि साम्य रखकर फिर यहकी कल्पना करके उसे वर्तमानतया बोलना यह तो हैं अधःकर्म और इदं एक साधारणतयाके लिए कहा जाता है। वह पूर्ण है यह पूर्ण है अच्छा प्रभु परमात्मा सिद्ध पूर्ण हैं कि नहीं ? शुद्ध निर्मल अनन्त आनन्दरसमें लीन कृतकृत्य जैसे अब कुछ करनेको नहीं रहा वैसा ही स्वरूप तो अपना है पर यहाँ क्या हालत हो रही है। कौन ठिकाना है, कब संसारके संकट छूटेंगे, कितने संकट लगे हैं।

परमें एकत्व ही उपसर्गका हेतु – सब बाह्य दृष्टिका परिणाम है। जिस दृष्टिसे जिस प्रयत्नसे हम दुःखी हो रहे हैं उसी प्रयत्नमें मौज मानते हैं। यह कितना बड़ा भारी उपसर्ग है हम आप सब परमात्म प्रभुवोंके ऊपर, नहीं तो कष्ट क्या है ? जहाँ हो वही बैठे रहें। जिस क्षेत्रमें आपका स्वरूप है वही और अन्तः प्रवेश करके स्थित हो जाय तो फिर कौनसा संकट है। जहाँ इस अपने विवेकमय पुरुषार्थसे चुके और इन इन्द्रियोंमें बाहरमें कुछ व्यापार किया लो सारे संकट एक साथ उमड़ आये। कुछ इष्ट जचा कुछ अनिष्ट जचा किसीसे राग हुआ, किसीसे द्वेष हुआ, और जो मनमें इन्द्रियमें जैसी जो कुछ वर्तना चाहिए उस तरह बतनेको विवश हो गए, सारे संकट सामने आ गए, अब दूसरोंसे व्यवहार चलने लगा ना, तो दूसरे भी विषय कसायों वाले पुरुष हैं, उनके भी स्वार्थ लगा हुआ है, वे अपने स्वार्थमें रहा करते हैं। तो अब ये सब बातें चल उठी विरोधकी, झगड़ेकी, विवादकी संकट माना जाने लगा।

ज्ञानमय स्वरूपकी रुचिसे ही संकटका अन्त – हाँ कितने ही संकट हों परवाह नहीं। जरा अन्तः दृष्टि दे तो दीजिए – यह मैं सबसे न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप मात्र हूँ। इतनी झाँकी आये लो सारे संकट कहाँ हैं अब ? वह तो शान्त आनन्दमय अपने आपमें अपने आपकी दृष्टि नहीं जगती इस कारण इतनी परेशानी उठा रहे हैं यह है इस समयके जीवलोककी स्थिति। पर यह सिद्ध भगवान जिसके चक्रको पूजा

http://www.jainkosh.org

है, चक्र मायो समूह और वहाँ भी इस भगवानका चक्र समझमें नहीं आता।

वस्तुके मर्मज्ञके ही दुःख निवृत्ति – एक स्तुतिमें यों बोलते हैं ना - जो एक माहि एक राजै एक माहि अनेकको सुनते भी ऐसा झट लगा होगा कि यह क्या चक्र है यह प्रभु कैसे हैं कि एकमें एक ही हैं, फिर क्या यह बैठे हैं–एकमें अनेक है, इन दो बातोंका क्या मतलब है ? यह सिद्ध भगवान एकमें एक हैं एकमें अनेक हैं और फिर क्या कह बैठे तीसरी बात ? एक अनेकनकी नहिं संख्या, वहाँ एक अनेक की भी कोई बात नहीं है ऐसे नमो सिद्ध निरञ्जनं। यह सिद्ध चक्रकी बात कहाँ है। क्या मर्म है। मर्मी होय मरम सो जाने। जानना कोई कठिन बात नहीं है। आपके घरकी पतेकी बात है वहाँ। जैसे आपका किसी बड़े शहर कलकत्ता बम्बई शहरमें बड़ा काम हो, पर उसकी डोर यहाँ आपके पास है, आप घर बैठे ही उस कामकी सारी व्यवस्था बनाते हैं, तो स्वरूपके नातेसे वह समस्त सिद्ध चक्रकी डोर आपके पास है और यहाँ बैठे बैठे आप उनकी व्यवस्था भी बता सकते हैं। क्या है वहाँ ? एकमें एक राजे दूसरा नहीं। एकमें दूसरा सिद्ध नहीं है, एकमें एक ही सिद्ध है, दूसरा वहाँ हो हीं नहीं सकता। कैसे ? कहते तो यों हैं–एक माहि अनन्त मुनि मोक्ष गए हैं और जो जहाँसे मुक्त हुए है वे सीधा यों ही विराजमान होते हैं। लोक शिखरपर तो एकमें अनेक है कि नहीं। जहाँ एक सिद्ध है वहाँ अनेक सिद्ध हैं, हाँ यह तो बात ठीक है लेकिन यह भी पूर्ण ठीक है कि जो एक सिद्ध हैं, एक स्वरूप हैं उसमें वही राज रहा है। उसका ही ज्ञान आनन्द उसका ही परिणमन वह अपने ज्ञानसे अपने आनन्दसे परमात्मविलास भोगता है, उसी जगह चाहे दूसरे सिद्ध भी अनन्त हैं लेकिन वे भी एक एक अकेले अकेले अपने ही स्वरूपमें अपने आपका गुण परिणमन कर रहे हैं तब एकमें दूसरा है क्या ? एकमें एक ही रह रहा है और जब यहाँ देखा तो लगा कि एकमें अनेक रहे हैं इसपर फिर क्या कहा—अरे नहीं एक अनेकनकी नहीं संख्या, जब एकमें अनेककी दृष्टि डाली थी तब तो बुद्धि बहुत बाहर थी, गुण और पर्यायमें दृष्टि न थी। द्रव्यमें, पिण्डमें व्यक्तिमें दृष्टि थी और जब एकमें एकको देखा तब कुछ भीतर तो आया, पर वहाँ भी प्रतिव्यक्ति गुण पर्यायोंकी नजर रखी गयी तब यों लगा कि एकमें एक ही विराज रहा है।

भक्त की प्रार्थना - अब जरा और अन्तर दृष्टि गयी तो वहाँ केवल स्वरूप मात्र नजर आया। एक अनेककी भी सुध भूल गए। अब एक अनेककी नहीं संख्या, ऐसे निरञ्जन सिद्धको नमस्कार हो' यही है सिद्धचक्र। सिद्ध समूह है और उसका मर्म समझनेमें कुछ चक्र सा लग रहा है और कुछ स्पष्ट सी बात है। हमारा नाता है चैतन्यस्वरूपके नातेसे हम उनके विलासको समझ सकते हैं पर परमात्माके विलासको समझनेके लिए हममें अपने आपमें कितनी पवित्रता होनी चाहिए तब समझा जा सकता है ? वह पवित्रता जगे और प्रभुमें ही हमारी भक्ति रहे वहाँ ही हमारी एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

डोर रहे, विहार रहे, ऐसी प्रार्थना भक्तकी होती है।

जिज्ञासुको परमात्मतत्त्व सुलभ—तो यह ज्ञायक स्वभाव जो अत्यन्त है, स्वाधीन है, जिसके निहारनेमें भी आनन्द है, ऐसे आनन्दधामकी दृष्टि छोड़ दें और यहांके समागमोंमें मुग्ध रहें परिवारमें, बच्चोंमें, धनवैभवमें और बहिर्मुख दृष्टि रख रख कर अपनेको आकुलित बनायें तो अपने आपमें कुछ चिन्तन तो कीजिये कि हम कितना अपने आपपर उपद्रव ढा रहे हैं।

जीवमात्रमें परमात्मतत्त्व निहित—यह प्रभु प्रभुकी प्रभुता कुछ साधन जोड़ करके बनायी जाती है क्या ? जितने भी साधन जुड़ते हैं वे प्रभुकी प्रभुता प्रकट करने लायक मुझमें पवित्रता रहे उसके लिए जुटाये जाते हैं पर प्रभुता तो प्रभुमें स्वयं प्रकट होती है। इसी कारण प्रभुका नाम स्वयंभू है वह स्वयं स्वयंमेंसे हुए हैं। पत्थर की मूर्ति और मिट्टीकी मूर्ति बनानेमें कुछ क्रियावोंका अन्तर है कि नहीं ? पत्थरकी मूर्ति किस तरह बनायी जाती है और मिट्टीसे मूर्ति किस तरह बनायी जाती है। अरे, मिट्टी लाये, उसे सानी, उसमें और और मसाले ला कर डाले, उसके लोंदा बनाये फिर उसकी मूर्ति बना ली। इस काममें तो बाहरसे चीजें जुटानी पड़ीं और उनका पिण्ड बनाना पड़ा तो मिट्टीकी मूर्ति बनानेसे लावो–लावोंका काम रहा। मिट्टी लावो, मसाला लावो, अमुक चीज लावो आदि। और, पत्थरकीकी मूर्तिमें हटावो हटाओका काम है। कोई पाषाण है जो उसमेंसे निकाला जाना है वह कहींसे बाहरसे नहीं लाना है। वे अवयव जो पत्थर हटानेके बाद प्रकट होंगे, वे अवयव पहिलेसे ही हैं। अब किया यह गया कि छेनी हथौड़ीसे उस अवयवको आवरण करने वाले जो पाषाण हैं, उन्हें हटाया है। हटाओ–हटाओका काम चल रहा है, लावो–लावोंका माम नहीं चल रहा है। तो ऐसे ही जो परमात्म पदका विकास है, प्रभु होनेकी बात है वह हटावो हटावोसे बनेगी, लावो लावोंसे न बनेगी। जैसे एक वह पाषाण जिसमें बिम्बके अवयव पहिलेसे उपस्थित हैं, आवरण हटाये और वह प्रकट हुई है। इस ही प्रकार हम आप सबके स्वरूपमें वह चैतन्यस्वभाव, वह परमात्मत्व सबमें उपस्थित है, उसका आवरण करने वाले जो विषय कषायोंके परिणाम हैं तत्त्वज्ञानकी छेनी–हथोड़ीसे उन्हें हटावो हटावोका काम करिये। स्वरूप तो है ही परमात्मतत्त्वका। परिपूर्ण है वह स्वयं प्रकट हो जाता है। इसी कारण प्रभुको टङ्कोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वरूप कहा गया है।

टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वरूपकी दृष्टिसे अनाकुलत्वकी सिद्धि—टंकोंत्कीर्णवत् निश्चल प्रभुत्वपर हमारी दृष्टि जाय, उस ओर हमारा मुख मुड़े, हम उसे सर्वस्व समझते रहें, तो यह बड़े सुख–शान्तिकी बात होगी। पराधीन मायामयी जन्म मरणके दुःखसे जो स्वयं दुखी हैं, कलङ्कित हैं ऐसे ही लौकिक जनोंमें मोह और स्नेह भाव रखनेसे इस आत्माका क्या पूरा पड़ेगा ? खूब समझ लीजिये ! कितना दुर्लभ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

समागम हम आपने प्राप्त किया ? जैनशासनका पाना, जैनशासनका वातावरण पाना और इस जैनशासनके तत्त्वके मर्मोंकी बात सुनना जानना समझना यह तो और भी उत्तरोत्तर दुर्लभ बात है। प्रथम तो मनुष्य ही बनना दुर्लभ है, पर मनुष्य होकर बुद्धि सही रहे, अच्छे कुलमें उत्पन्न हुए, अच्छे देशमें जन्म हो जाना, जैन शासन जैसे अहिंसात्मक और केवल वस्तुस्वरूपको निहारनेका उपदेश करने वाले और उस हीके आवरणके लिए मार्ग बताने वाले जैनशासनका लाभ होना कितनी दुर्लभ बातें हम आपने प्राप्त की हैं। इतना श्रेष्ठ सर्वस्व पाकर भी हम अपने आप तत्त्वज्ञानकी ओर न मुड़ें और अन्य लौकिक जनोंकी भांति विषय कषायोंमें ही अपना उपयोग रमायें तो यह कितने बड़े खेदकी बात होगी। संकल्प करिये कि प्रभुभक्ति तो करेंगे ही रोज, पर तत्त्वज्ञान जगाये रहनेके लिये एक घण्टा समय स्वाध्यायमें या पण्डितोंसे शिक्षा ग्रहण करनेमें किसी भी प्रकारसे तत्त्वज्ञानके लिए भी समय लगे, ऐसा अपना संकल्प बनायें और अपनेमें अपनेको निरखकर प्रसन्न होवें।

आत्मामें कर्ता, करण, क्रियाका एकत्व आत्मा जानता है तो इस शैली से जानता है जैसा कि मैं ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ, इसमें चार चीजें आयीं। मैं यह तो कर्ता हुआ, चौकीको यह कर्म हुआ, ज्ञानके द्वारा यह करण हुआ, जानता हूँ यह क्रिया हुई। शङ्काकार यहाँ सिर्फ करणको प्रत्यक्ष नहीं मानता, कर्ताको भी प्रत्यक्ष नहीं मान रहा, कर्मको प्रत्यक्ष मानता है, क्रियाको भी प्रत्यक्ष मानता। इसके सिद्धान्तसे जानने वाला मैं भी प्रतीतिमें हुआ। चौकीको जाना वह भी प्रतीतिमें है जानता हूँ यह फल भी प्रतीतिमें है। किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा जानता हूँ वह प्रतीति में नहीं है ऐसा इसका मंतव्य है। इस सम्बन्धमें बहुत सी बातें बतायी भी है और अब यह बतला रहे हैं कि ज्ञानरूप जो करण है वह तो कर्तासे अभिन्न है, वह तो कहने मात्रका करण है। करण तो जड़ है चक्षु है। छद्मस्थ पुरुषोंके ज्ञान होनेमें करण तो मन और इन्द्रिय है जिनका निमित्त पाकर जानते हैं। ज्ञान तो आत्माकी शक्ति और परिणमन है ज्ञान तो स्वसंविदित है।

ज्ञानके आत्माकी शक्ति एवं परिणतिकी उपादेयता - शङ्काकार कह रहा है कि इन्द्रिय और मन तो अचेतन है, अतएव करण रहे आये, किन्तु उस करण की प्रधानता नहीं है। ज्ञान चेतन है इस लिए यहाँ प्रधान करण वही है, यह भी बात युक्त नहीं बैठती क्योंकि भाव इन्द्रिय और भावमन ये तो चेतन माने गए हैं और भाव इन्द्रिय भावमनमें भी अगर परोक्षपना सिद्ध करें तो वह भी ठीक है क्योंकि जो लब्धिरूप इन्द्रिय मन है वह परोक्ष है किन्तु उपयोगरूपसे जो इन्द्रिय और मन चलता है वह तो परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष है। यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षका तात्पर्य दार्शनिक पद्धति से लेना है। जैसे मैं चक्षु इन्द्रियके द्वारसे चौकीके ग्रहणमें उपयुक्त हुआ हूँ तो मैं चौकी को देख रहा हूँ अन्यको नहीं इसी प्रकार अपने अर्थको ग्रहण करनेका जो व्यापार है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वह स्वसम्वेदन सिद्ध है। मैं जो कुछ जाक रहा हूँ और जो कुछ भीतरी बात बर्त रही है उसे दूसरे जन चाहे न जानें, हम तो बराबर सब जान रहे हैं. सब लोग विचार लो, जिसके मनमें जो भाव है, जो विचार है वह उसको तो स्पष्ट प्रतीत है, दूसरा चाहे उसे जान पाये या न जान पाये। तो अपना ज्ञान अपनी क्रिया स्वयं कर्ता यह सब बिल्कुल स्पष्ट रहता है। चाहे वह किसी पद्धतिसे स्पष्ट हो, सभी मनुष्योंको यह प्रतीति है कि जो मैं उपयोग करता हूँ सो जानता हूँ। मैं यह सोच रहा हूँ, मैं यह जान रहा हूँ, सबको अपनी अपनी बात विदित है। जैसे कोई पुरुष मायाचार करे, कपट करे, छलका भाव लाये तो जो छल करने वाला है वह सब समझ रहा है या नहीं कि मैं यों सोच रहा हूँ मैं यों करूँगा, दूसरा जाने या न जाने। तो जो स्वयं जानने वाला है वह अपने आपमें स्पष्ट है, उसे तो सब बात मालूम है। जानकारीको अथवा ज्ञानकी अप्रतीत नहीं कह सकते।

आत्माके स्वसम्वेदनकी सिद्धि— यदि यह तुम्हारी अड़ हो कि जितनी भी क्रियायें होती हैं उन क्रियाओंके करनेमें कोई कारण जरूर चाहिए। जैसे पेन्सिल छीली गई तो छीलने रूप कार्यमें कोई कारण चाहिए। यह कारण क्या है ? चाकू। ऐसे हो यह भी हठ कर रहे हो कि जाननेकी जो क्रिया हो रही है उस क्रियामें कोई करण चाहिए। वह करण है ज्ञान। और जैसे जो जो करण होता है वह सब होता है परोक्ष। तो यह ज्ञान भी परोक्ष है। यदि ऐसी ही अड़ पकड़ते हो तो जब आत्मा का सम्वेदन किया जा रहा हो आत्मानुभव तो वह भी तो एक काम है ना ? तो उस आत्माके स्वसम्वेदनमें क्या कारण बनेगा सो बतावो ? देखिये ! आत्माके स्वसम्वेदन से करण ज्ञान नहीं माना है शङ्काकार ने। क्योंकि आत्माका स्वरूप दृष्टा माना है। ये लोग ज्ञाता नहीं मानते। जल्दी समझनेके लिए ऐसा ख्याल करलें कि उपयोग दो प्रकारका है ज्ञान और दर्शन। उसमेंसे दर्शन तो आत्माका स्वरूप है और ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, वह प्रकृतिका विकार है या जिस चाहेका भौतिक विकार। ज्ञानको आत्माका मानते हो नहीं। तो जब आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा हो तो वह भी एक क्रिया है। उस क्रियामें करण क्या मानोगे ? अपना आत्मा ही माना है इसका करण ज्ञानका तो वहाँ कोई प्रसङ्ग ही नहीं। तब अर्थको ही क्यों नहीं एक सीधा प्रत्यक्ष मान लेते हो, इसमें क्यों अदृष्ट अन्तरकी कल्पना करते ?

स्व परके जाननमें ज्ञान ही कारण—भैया ! सीधी बात है जान लिया आत्मपरिच्छित्तिमें आत्मा ही करण मानते तो अर्थ परिच्छित्तिमें अर्थको ही करण ज्ञानको करण क्यों मानते ? जब आत्माकी स्वसम्वेदनरूप क्रियामें हमारा आत्मा ही कारण बन गया तो पदार्थकी प्रतीतिमें वही पदार्थ करण बन जावे। फिर ज्ञानको माननेकी क्या जरूरत है ? इस कारण चक्षु आदिक जो ये करण हैं, इन्द्रियाँ हैं इनसे कुछ भिन्नता मानते हो ज्ञानमें ? तो यह जरूर मानना पड़ेगा कि ज्ञान यद्यपि कर्मरूप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

से प्रतीत नहीं हो रहा है करणरूपसे हो रहा है फिर भी प्रत्यक्ष है। जैसे मैं चौकीको जानता हूँ इसमें चौकी कर्मरूपसे जानी गयी। चौकीको तो ये प्रत्यक्ष जानते हैं ना, ऐसे ही करण रूपसे जाना गया जो ज्ञान है वह भी प्रत्यक्ष होता है। यह हठ न चलेगी कि जो कर्मरूपसे हो वही प्रत्यक्ष होता है। और, फिर कितनी अन्धेर की बात है कि फल भी तुम प्रत्यक्ष मानते और कर्ता को भी प्रत्यक्ष मानते। और जो पदार्थ जाना गया उसे भी प्रत्यक्ष मानते ; सिर्फ एक ज्ञान से तुम्हें ईर्ष्या है उसे प्रत्यक्ष नहीं कहा। जो बात ठीक युक्ति में नहीं बैठते, चाहे ये कर्म प्रत्यक्ष नहीं हो रहे पर करण तो प्रत्यक्ष होगा ही।

स्याद्वाद द्वारा भिन्नाभिन्नत्व उपपत्ति क्योंकि वह जो करणरूप ज्ञान है वह आत्मा से भिन्न है, यदि ज्ञानको आत्मासे भिन्न मानोगे तो विशेषवाद खड़ा हो जायगा। यों समझिये कि आत्मा नामकी कोई एक चीज न रहेगी, क्योंकि गुण अलग पदार्थ है, क्रिया अलग पदार्थ है, सामान्य विशेष करते जाइये, स्याद्वाद भेदाभेदात्मक को बताता है और एक लोक प्रसिद्ध है कि हाथीकी सूढ़ वाले गणेश जी है, और उनका वाहन चूहा माना है। ऐसा चित्र भी देखा होगा। यह चित्र काहे की सूचना देता है ? यह एक तत्त्वका आकार बनाया गया है। कोई घटना घटी हो, चूहेपर चढ़ते फिरते हों ऐसी बात नहीं है, पर वह एक तत्त्वकी घटना बतायी गयी है। भेदा भेदात्मक स्वरूपका चित्र है वह। चूहाका नहीं पशुका नहीं, रूपक बताया है। वहाँ दो बातें हैं—एक तो गणेश जी एक पुरुष हैं और उस पुरुषमें ऐसी फिट बैठी है जैसे किसी पुरुषकी गर्दन होती। कोई अलगसे टांका नहीं है। कुछ निशान नहीं बल्कि जैसे मनुष्यका मुँह है तैसे ही इसका मुंह है, इस तरहका कर दिया गया है और कथन में बताया कि भवानीके शरीरके मलसे गणेश जी बन गए थे, और उनके पिताको मालूम न था तो उन्होंने शिर काट दिया। कौन आ गया हमारे यहाँ अन्तःपुरके निकट। जब बताया कि यह तो अपना ही पुत्र है हमारे मलसे पैदा हुआ था तब उन्होंने ढूंढकर कहींसे लाकर एक हाथीका मुंह फिट कर दिया। तो वहाँ यह देखना है कि वे दो अंग इस तरह जुड़ गए कि उनमें कुछ भिन्नता नहीं प्रतीत होती है। वह अभेद अभेदका प्रतीक है। यों अभेद है यों अखण्ड है। दो अंग अलग अलग नहीं मालूम पड़ते। गणेश जीकी सूंढ़ अभेदका उदाहरण है, और जो वाहन चूहा है वह भेदका उदाहरण है। चूहा किसी कपड़ेके कुतर कुतरकर इस तरहके खण्ड खण्ड कर देता है जिनको मनुष्य किसी चीजसे काटकर नहीं कर सकता। वह चूहा है भेदका दृष्टान्त। तो वह सारा चित्र भेदाभेदात्मक है और स्याद्वादका प्रतीक है। तो स्याद्वादसे वे सर्व सिद्धियाँकी जा सकती हैं।

स्याद्वादके बिना वस्तुधर्मकी असिद्धि आत्माका ज्ञान भिन्न है या अभिन्न ? यह प्रश्न रखा गया। आत्मासे ज्ञान अभिन्न है क्योंकि आत्माका स्वरूप

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञान है, यह तो ठीक है किन्तु आत्मा कहते हैं अनन्त गुणोंके पिण्डको और उनमेंसे है ज्ञान एक गुण। तो अब गुण गुणीका भेद हुआ ना, लक्षणका भेद हुआ, संज्ञाका भेद हुआ, प्रयोजनका भेद हुआ। तो आत्मासे ज्ञान भिन्न भी है। अब स्याद्वादका आश्रय लिए बिना कुछ भी एक बात कहें तो तीर्थकी परिणति नहीं चल सकती। आत्मासे ज्ञान बिल्कुल अभिन्न है तो उसकी चर्चा ही करते फिरना बेकार है। कुछ बताया ही नहीं जा सकता बस एक आत्मा आत्मा आत्मा। किसी दूसरी बातको मुखसे न बोले क्योंकि वह भेद है, ज्ञान है सो आत्मा है, फिर न पता सलेगा, तीर्थ परिणति चलेगी और आत्मा से ज्ञान न्यारा है ऐसा मानते हो तो बताओ ज्ञानरहित आत्मा क्या ? और आत्माको छोड़कर ज्ञान अलग क्या ? न ज्ञानका स्वरूप बनेगा और न आत्मा का स्वरूप बनेगा। स्याद्वादका सहारा लिए बिना धर्मकी भी सिद्धि नहीं होती। किसीको आपने दो वर्ष पहिले कुछ रुपये उधार दिये थे अब आज आप उससे अपना हिसाब करवाना चाहते हैं तो आप यह बतलावो कि जिससे आप हिसाब करवाना चाहते क्या वह वही है जो दो वर्ष पहिले था ? यदि वही था तो ब्याज उसपर आता नहीं, और यदि कहो कि वह नहीं और है तो रूपसे माँग क्यों उठे ? यह तो और है दिया किसीको था।

स्याद्वाद द्वारा समस्त विवादोंका अन्त— तो जितने भी व्यवहार बन रहे हैं वे स्याद्वादसे बन रहे हैं भले ही लोग स्याद्वादके नामसे परिचित न हों लेकिन आधार उसीका हर व्यवहारमें चल रहा है, घरमें बाहर सर्वत्र वही व्यवहार चल रहा है। तो यों जो हमारे ज्ञानकी शैली है उसमें कर्ता कर्म करण क्रिया ये चार प्रकारके होते हैं। चारोंके चारों इस जाननहार आत्माको प्रतीतिमें रहते हैं। ऐसा नहीं है कि जानने वाला उस प्रतीतिसे हो अपनी समझमें हो, जिस चीजको जाना जा रहा है उसकी भी प्रतीति है और जो जानन बन रहा है उसकी भी प्रतीति है, ज्ञानकी भर प्रतीति नहीं है। ऐसा नहीं है। चारोंके चारों बराबर प्रतीतिमें आ रहे हैं। जैसे पदार्थ को जाना तो वह पदार्थ प्रतीतिमें स्पष्ट है इसी प्रकार जाननहारमें और जाननका अभिन्न करण ज्ञान और जाननेकी क्रिया ये भी हमारी प्रतीतिमें हैं। जैसे किसी योगी ने कर्मकाण्डका अध्ययन नहीं किया और भेदविज्ञान, और आत्म ध्यानके प्रतापसे वह श्रेणीमें चढ़ता जाय, क्षपकश्रेणीमें चढ़े तो वह कुछ नहीं जानता कि ९वें गुणस्थान के परिणमनमें क्या होता है, कितनी प्रकृतियोंका आकर्षण होता है, कैसी निर्जरा चलती है, १०वें ११वें १२वें गुणस्थानमें क्या होता है। न उनका ध्यान दे, नहीं पहिले ज्ञान किया और न अब उपयोग है लेकिन उस शुक्ल ध्यानके प्रतापसे जो बात होती है वह सबपर एकसी होती है।

जाननहार आत्मासे ज्ञानका अपृथक्त्व—चाहे कोई कर्मकाण्डका विद्वान हो और चाहे कर्मकाण्डके विषयमें कुछ न जानता हो, पर जिसके पवित्रता है, ध्यान

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है उसपर तो सब बातें एकसी गुजरेंगी। इसी तरह जितना भी जो जानते हैं वे चाहे यह न समझ सकें कि इसमें कर्ता क्या है। कारण क्या है। क्रिया क्या है, नहीं उस का विश्लेषण कुछ कर सकते लेकिन जाननेकी जो शैली है, प्रयोगहै वह सबमें प्रक समान ही गुजरता है चाहे अपनी जानकारीका कोई विश्लेषण कर सके या न कर सके। तो यों ज्ञान आत्मासे सर्वथा भिन्न नहीं है, कथंचित भिन्न मानलें तो कथंचित भिन्न मान लेनेसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता ही नहीं है ऐसा एकान्त तो न बन सकेगा। अरे प्रत्यक्ष स्वभाव वाले तुमने कर्ता तो माना है और क्रियाको भी माना है, ज्ञानको भी माना है, अब उससे अभिन्न ज्ञान है। कर्तासे भिन्न ज्ञान नहीं है जाननहार आत्मासे जुदा ज्ञान नहीं है और जाननकी जो क्रिया है। व्यवस्था है उससे जुदा कुछ ज्ञान नहीं है। तो जिसमें तुमने प्रत्यक्ष स्वभाव माना आत्मा उसकी प्रतीतिमें बराबर रहता है। तो उससे अभिन्न जो ज्ञान है वह कहाँ अप्रत्यक्ष बनेगा, वह भी एक प्रत्यक्ष होगा।

ज्ञानके स्वपर प्रकाशकता - यहाँ प्रमाणके स्वरूपका प्रकरण चल रहा है, प्रमाण होता है ज्ञान और वह ज्ञान होता है स्वपर प्रकाशात्मक। इनमेंसे कुछ दार्शनिक परप्रकाशक तो मान लेते हैं और स्वप्रकाशक नहीं मानते। तो स्वप्रकाशकताकी सिद्धि इस प्रसङ्गमें की जा रही है कि जो पुरुष कोई जानता है तो इस पद्धतिसे ही तो जानता है कि मैं अपने ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ तो इस प्रयोगमें जैसा कर्म उत्पन्न हो रहा है स्पष्ट प्रतीतिमें आ रहा है यह है चौकी। जो समझ रहा है यह है चौकी! उसे खुदकी भी समझ है या नहीं कि मैं जान रहा हूँ और जाननेकी समझ है कि नहीं कि मैं जान रहा हूँ या सो रहा हूँ या खा रहा हूँ? यों पागल सा अनुभव करता है क्या? न खा रहा है, न उठा रहा है, न जान रहा है। तो खाने जानने आदिका भान है कि नहीं? तो कर्म जैसे प्रतीतिमें स्पष्ट होते हैं ऐसे ही कर्ता कर्म और क्रियाकी भी प्रतीति होती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अपने ही स्वरूपसे समस्त विश्वको जाननेकी सामर्थ्य रखता है, किसी पदार्थकी कृपासे नहीं। जो भी जगत्में सत् हो उस सबको यह जान लेता है। अब हम और जो नहीं जान पाते बहुत सी बातें उसमें कारण है ज्ञानावरण कर्मका उदय। वे ज्ञानावरण हैं अध्यात्म दृष्टिसे विषय और कषाय। उस आवरणका निमित्त पाकर कोई सूक्ष्म ऐसा अद्भुत अणु समूह है जो इस आत्माके साथ बन्धनको प्राप्त होता है। तो ये आवरण होनेसे हम जानकारी नहीं बढ़ा पाते किन्तु हमारा जाननेका स्वभाव है और जाननेकी कोई सीमा नहीं होती। जो भी जगतमें सत् हो वह सब मेरे ज्ञानमें आ सकता है और जो निर्दोष हैं, निराकरण हैं उनके ज्ञानमें समस्त विश्व आ ही रहा है।

ज्ञानमें स्वपर प्रकाशकत्वकी सार्थकता—तो यों ज्ञान स्वभाव है और स्वपर व्यवसायी तत्त्व है। जैसे दीपक खुदका प्रकाश करने वाला न हो तो परका भी प्रकाश नहीं कर सकता इसी तरह यह ज्ञान यदि स्वका भान करने वाला न हो

तो पर पदार्थका भी भान नहीं कर सकता। और फिर एक बात बतलावो—शङ्का-कारसे पूछा जा रहा है कि आत्मा और ज्ञान ये क्या सर्वथा ही कर्म नहीं होते या कथंचित कर्म नहीं होते ? कर्मका अर्थ है जैसे जिसमेंको लगाते हिन्दीमें और इंगलिश में टू (To) लगाते वह कर्म होता है। जैसे मैं गाँवको जाता हूँ। तो गाँव कर्म हो गया, मैं वस्त्रको पहिनता हूँ तो वस्त्र कर्म हो गया। इसमें मैं कर्ता रहा और वस्त्र कर्म हो गया और हाथके द्वारा पहिनता हूँ तो हाथ करण हो गया। तो वस्त्र तो कर्म हुआ मैं और हाथ ये कर्म नहीं हुए। यह तो बाहरकी बात बतला रहे हैं, अन्तरकी बात सोचिये। मैं चौकीको ज्ञानसे जानता हूँ। तो मैं और ज्ञान इन दोनोंका तो ज्ञान जान कारी क्रियामें कर्म तुम मानते नहीं और चौकीको स्पष्ट कर्म मान रहे तो यह बतलावो कि उस आत्मा और ज्ञान इस प्रयोगमें तो हम कर्म नहीं है पर क्या ये सर्वथा कर्म नहीं होते ये कथंचित नहीं होते। सर्वथा तो कह नहीं सकते। अच्छा इस प्रयोगमें मैं चौकीको जानता हूँ, मैं और ज्ञान ज्ञान न रहा आये, पर दूसरा अगर मेरेको जाने तो वहाँ तो मैं कर्म हो गया। दूसरा अगर ज्ञानको जाने तो यह ज्ञान कर्म हो गया अथवा मैं चौकीको जानता हूँ इस प्रयोगमें मैं और ज्ञान कर्म नहीं बना लेकिन जब हम इस हीको यों जानने लगे, मैं क्या हूँ तो मैं कर्म बनेगा कि नहीं। यह ज्ञान क्या है जिसके द्वारा चौकी जाना गया। तो ज्ञान कर्म बनेगा कि नहीं ? सर्वथा ये कर्म न होते हों यह बात सिद्ध नहीं है। यदि कहें कि कथंचित कर्म हैं उस रूपसे प्रत्यक्ष हो गए। ज्ञान भी और आत्मा भी। इस प्रसङ्गमें यह बात सिद्धकी जा रही है कि जानन हार जो मैं हूँ सो वह मैं प्रतीतिमें रहता है। भान इस मैं का भी है। चौकीको जानता हूँ। चौकीका भी भान है, ज्ञानके द्वारा जानता हूँ उस ज्ञानसे भी चौकीको जाननेका जो श्रम किया जा रहा है उसका भी भान है और जानता हूँ इसका भी भान है तो सभी चीजें स्पष्ट होती है और ऐसा ज्ञान स्वका भी प्रकाशक होता और परका भी प्रकाशक होता है। यह खुदके पतेकी बात कही जा रही है। कि जो स्वरूप है वह स्वरूप स्वपर प्रकाशात्मक है।

ज्ञानस्वरूप आत्माकी विशिष्टता—हम आप सब आत्मा हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और निरन्तर जानते रहा करते हैं और जाननेकी शैलीमें यह बात पड़ी होती है कि जिस चीजको जानते है वह भी हमारी प्रतीतिमें, समझमें भली प्रकार आती है और जो जानता है मैं जानता हूँ तो यह मैं भी भली प्रकार अपने आपके भानमें हो कि मैं जानता हूँ और जिसके द्वारा मैं जानता हूँ उस ज्ञानकी भी भली प्रकार प्रतीति होती है कि मैं ज्ञानके द्वारा जानता हूँ और जानते हुएकी भी प्रतीति है। इस तरह ज्ञानसे सम्बन्ध रखने वाले जितने रूप हैं वे सब भानमें रहा करते हैं किन्तु यहाँ एक दार्शनिक यह बात रख रहा है कि मैं भी प्रतीतिमें हूँ अर्थात् जाननेकी क्रियाका कर्ता आत्मा भी भानमें होता है और जिस पदार्थको जाना जा रहा है वह भी भानमें रहता, किन्तु जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं वह ज्ञान भानमें नहीं है अर्थात् उस ज्ञानका प्रत्यक्ष नहीं है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कर्मवत् ज्ञानके कर्ता कर्म क्रियाकी प्रतीतिकी उपलब्धि—भैया ! इस सम्बन्धमें यह पूछा गया था कि हम जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं उसका यदि प्रत्यक्ष नहीं है तो क्या वह ज्ञान कर्म नहीं है ? हमारा कर्मको जानना बताया ना, इस दार्शनिकने । तो मेरा यह ज्ञान जिसके द्वारा जान रहा हूँ, जो कारणभूत है क्या वह सर्वथा कर्म नहीं है या कथंचित् कर्म नहीं है ? कर्मका अर्थ यह है कि जैसे मैं चौकी जानता हूँ तो यहाँ कर्मकारक चौकी है, तो इस दार्शनिकका यह कहना है कि जो कर्म है उसका तो भान होता है पर जो करण है उसका भान नहीं होता । मैं ज्ञानके द्वारा चोकीको जानता हूँ तो यहाँ कर्म चौकी है उसका भान तो स्पष्ट रहेगा पर ज्ञान के द्वारा जानता हूँ । जिस ज्ञानके द्वारा वह ज्ञान भानमें नहीं आया करता, वह स्पष्ट नहीं हुआ करता । सो पूछा जा रहा है कि क्या वह सर्वथा कर्म नहीं है या कथंचित् नहीं है ? सर्वथा नहीं कह सकते । जानता हूँ, दूसरे जानते हैं कथंचित् कहेंगे तो वह ठीक है, जिस रूपसे ज्ञान कर्म हुआ उस रूपसे ज्ञान प्रत्यक्ष हो गया । हम इस पदार्थ को भी जानते हैं तो जिस अंशमें जानते हैं उस अंशमें कर्म है, जिस अंशको नहीं जानते वह कर्म नहीं है । जैसे सामनेकी भींटको जान रहे हैं तो जो हिस्सा यहाँ है उतना हिस्सा कर्म बना, पर भींटके भीतर ईंट है, सीमेण्ट है, बिजलीके तार हैं, वे तो कर्म नहीं बने । तो कर्म करणमें जितने अंशमें कर्म हैं उतनेमें बने, पूर्ण वे भी नहीं बने । इसी प्रकार हम जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं वह ज्ञान भी कर्म बन गया जिस अंशमें उस अंशसे ज्ञानका प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए । और सीधीसी बात है । कर्म कोई वाक्य प्रयोगसे नहीं बनता ।

ग्राह्य एवं प्रतीयमान ज्ञानके ही कर्मत्व— जाननका कर्म तो प्रतीतिमें होता है । जो प्रतीयमान हो वह ग्राह्य है, वही कर्म है । तो जिस ज्ञानके द्वारा जानते हैं उसकी हमें प्रतीति नहीं है क्या ? अगर उस ज्ञानकी प्रतीति न हो तो पदार्थ भी नहीं जाना जा सकता । मैंने चौकी जाना यह ज्ञान सही है क्या ? यह चौकी ठीक जाना ना । तो इस चौकीका जो हमें ज्ञान हुआ वह ज्ञान भी ठीक है यह पहिले निश्चय हो तब हम यह कह सकते कि यह चौकी ही है । हम चौकीको तो सही बतावें और इस ज्ञानसे हम संदेह रखें कि जो चौकीका ज्ञान हुआ है यह मेरा ज्ञान सही है या नहीं । अगर यहाँ सन्देह है तो चौकीका भी सन्देह बन बैठा । और, अपने आपके ज्ञानमें निश्चय है तो चौकीका भी निश्चय है । ज्ञान सबकी प्रतीतिमें है, उसे ओझल नहीं कर सकते कर्ता और कर्म दोनों एक साथ रह सकते हैं, और होते ही हैं वास्तव में । जो भी कोई पदार्थ है उसकी जो दशा बनती है वास्तवमें वही उसका कर्म है ऐसा कहना तो व्यवहारकी बात है । जैसे कारीगरने मकान बनाया तो यह उपचारकी बात है । कारीगरने तो अपने शरीरमें हाथ पावका हलन चलन किया । इससे आगे और कुछ नहीं किया । मकान खड़ा हो गया उस कारीगरका, ईंट पत्थर आदिकका निमित्त पाकर । कोई कहते हैं कि मुझे अमुक पुरुषने गुस्सा दिला दिया । अरे कोई किसीको

गुस्सा कभी दिला ही नहीं सकता। उसने तो स्वयं अपनी कषाय वश अपने आपमें अपनी चेष्टाकी जिससे क्रोध बन गया, गलत शब्द मुखसे निकाल दिये। यों ही समझ लो कि कोई किसीको सुखी अथवा दुःखी भी नहीं कर सकता।

बाह्यमें कल्पना ही दुःखका मूल— खुद ही कल्पनाएँ करके किसीको इष्ट मान लिया किसीको अनिष्ट मान लिया, किसी से सुख मान लिया किसीसे दुःख मान लिया पर वास्तवमें कोई किसी दूसरेका कुछ भी कर सकनेमें समर्थ नहीं है। इन सांसारिक सुखोंसे भी इस मुझ आत्माका क्या लाभ यह के सुख दुःख दोनों की स्थितियां ऐसी हैं कि जिन स्थितियोंमें इस आत्माको शान्ति नहीं मिलती धैर्य नहीं रहता, गम्भीरता नहीं रहती। अपने आपके स्वरूपमें मग्न नहीं हो सकता। इसी दृष्टिसे ये संसारके सुख और दुःख दोनों ही आत्महितार्थीके लिए बराबर हैं। प्रायः लौकिकजन सुखकी लालसा करते हैं, पर जिनको अपने आत्माके आन्तरिकमर्मका परिचय हो गया उनको तो जैसा दुःख लगता है वैसा ही सुख लगता है, कुछ अन्तरमें आत्मस्वरूपके ज्ञानकी दृष्टि करके प्रकरण सुना जाय तो यह खुदसे बहुत ही निर्णीत हो जायगा कि सुख और दुःख दोनों एक तुला पर हैं।

सम्यक् परिचित वस्तुस्वरूपसे शान्ति की उपलब्धि– जिसने वस्तुस्वरूपका भली भांति परिचय कर लिया, अपने आपके एकत्वस्वरूपका जिसने अनुभव किया है वह उसमें जो आनन्द पाता है उस आनन्दकी ही धुन अपनेमें लगाये रहता हैं, और कुछ न चाहिए उसे सुख भी विकार निर्णयमें आता है और दुःख भी विकार है ऐसा निर्णय है। यह तो तत्त्वज्ञानी की ओरसे कथन है। अब जरा व्यावहारिक दृष्टि से भी देखलो संसारका कौनसा सुख इस जीवको शान्ति देने वाला है। सुखोंके नाम रखलो, नाम तो रखे नहीं जा सकते, क्योंकि सुखकी अनगिनते स्थितियां बना डाली है, जैसे दुःखकी दशायें अनगिनते हैं ऐसे ही सुखकी दशायें भी अनगिनते हैं और जो चीज नाना डिग्रियोंमें पायी जाय उसमें विकार है। वह स्वभावी बात नहीं है, उन्हें गल्तियां समझिये वे सब त्रुटियां हैं। आनन्द नाना तरहका नहीं होता, सुख दुःख नाना तरहके होते हैं।

आत्मामें पूर्ण विश्रामसे ही निराकुलत्व— भैया! आनन्द नाम उस स्थितिका है जहाँ किसी परवस्तुका विकल्प नहीं है, किसी भी विषय कषायका प्रसङ्ग नहीं है। पूर्ण विश्रामके साथ अपने आत्मामें मग्न हो रहा है योगी! उसकी जो निराकुलताकी स्थिति बनती है वह है आनन्द! वह आनन्द कई तरहका नहीं होता, वह एक ही प्रकारका होता है। ये सुख दुःख नाना तरहके हैं, परिवारसे, धनसम्पदा से, नामवरी आदिसे सुख माना, यों सुखकी अनेक स्थितियाँ हैं, सुखके अनेक अनुभवन हैं। यों ही दुःखकी बात है। किसी भी विषयके सुखने कोई शान्त हो सका हो या खुदको शान्ति हो सकी हो तो निर्णय करके देख लीजिये!

http://www.jainkosh.org

दु:खमिश्रित सुखमें दु:खकी उपलब्धि—यह सुख आनन्द नहीं है, किन्तु किसी समय कोई दु:ख कम हो गया तो उसे मान लेते हैं कि यह सुख है। कोई बड़ा क्लेश था, अनिष्ट बुद्धि कभी बहुत अधिक हो रही थी वहाँ, पर कुछ उपयोग बदल जाय, किसी वातावरणसे इन इन्द्रिय विषयोंके साधनोंसे तो उस दु:खकी कमीको लोग सुख कहने लगते हैं। जैसे किसीके १०४ डिग्री बुखार था, उतरकर १०१ डिग्री रह गया तो कोई उससे जब पूछता है कि कहो भाई ! अब कैसी तबियत है ? तो वह कहता है कि अब अच्छी तबियत है। अरे भाई ! कहाँ अच्छी तबियत है ? अभी तो १०१ डिग्री बुखार है। पर वहाँ हुआ क्या कि वेदनामें कमी हो गयी। इससे कहा कि अच्छी तबियत है। तो ऐसे ही इन संसारके दु:खोंका कुछ कम होनेका नाम सुख बना रखा है तभी तो सुख जितनी देरसे भोगनेमें आये समय गुजरनेके बाद फिर विषयोंकी कल्पना चलने लगती है। तो वह सुख किस कामका है जिस सुखके भोगने के बाद दु:खकी स्थितियाँ और बढ़ जाती हैं ? दु:खोंकी हालत तो यह है कि एक दु:ख मिटा तो दूसरा दु:ख सामने आ जाता है। जैसे धर्मार्थी जन, गृहस्थ लोग ऐसा विचार करते हैं कि अब हमारे करनेको कौन सा काम रह गया है ? अमुक दुकान बनाना है, मकान बनाना है, इतना वैभव इकट्ठा करना है, फिर इसके आगे कोई आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक दृष्टिसे सब बातें पूर्ण हो जाती है फिर हमें वित्तामें तृष्णामें पड़ने की जरूरत न रहेगी, अच्छी तरह रहेंगे।

औपाधिक स्थिति ही तत्त्वज्ञानमें बाधक - सत्सङ्गमें और धर्मसाधनामें समय लगावेंगे। कदाचित् उतना ही हो जाय जितना कि सोच लिया गया था तो उस के बाद तृष्णा न रहे, लालसा न रहे, शान्ति आ जाय, ऐसी स्थिति होती है क्या ? होती तो अवश्य है पर हम प्राय: करके यह बतला रहे हैं बिरला ही कोई ज्ञानी कर सकता है ऐसा परन्तु उतनी बात अपनेपर फिर तृष्णा बढ़ती है लालच लोभ चित्तमें आता है, बातपर नहीं थम सकता। एसे हीं सुखकी बात है, हम किसी सुखपर थम नहीं सकते। औपाधिक स्थितियाँ ऐली हैं कि जिनके कारण वह तत्त्व ज्ञान जग नहीं पाता। तो यहाँ भी ऐसी स्थिति होती है कि कोई सुख मिल नहीं पाता, तत्काल दु:ख उत्पन्न होते लगता है, कल्पनाएँ जगने लगती हैं, तो इन सबका कारण है अज्ञान। यह अज्ञान न समाये कि प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी जुदी जुदी स्थिति रख रहा है और अपनेको ही परिणमा रहा है। खुद का कर्ता है, खुद ही कर्म है यह बाय ध्यान में नहीं है।

वस्तुत: कर्ता कर्ममें अभेद—अतएव हम भी पर वस्तुके कर्ता बनते हैं और परको कर्म बनानेका यत्न रखते हैं, यह स्थिति है। वस्तुत: जो कर्ता है सो ही कर्म है। यह आत्मा जानता है परको तो कर्ता बननेसे क्या यह कर्म न बन सकेगा। जानते हैं और खुद भी जाने जा रहा है ये दोनों बातें एक साथ चल रही हैं। जिस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञानके द्वारा मैं जानता हूँ उस ज्ञानको भी मैं समझ रहा हूँ, यह सही है ज्ञानसे भी जाननेकी सही व्यवस्था बनती है। तो जो प्रतीतिमें आता है वह कर्म कहलाता है। ज्ञान भी हमारी प्रतीतिमें रहता है ऐसा ज्ञान भी कर्म बन गया वह भी प्रत्यक्ष होता है यदि यह कहें कि वह स्वयं नहीं जानता ज्ञान अपनेको। दूसरा ज्ञान जानता है उस कारणसे वह कर्म नहीं है। शङ्काकारका यह अभिप्राय है कि हमने किसी ज्ञानसे जाना कि यह चौकी है तो मेरा चौकीका ज्ञान है क्या अथवा सही है क्या ऐसा समझनेके लिये हमें एक नया ज्ञान और पैदा करना पड़ता है जिससे हम यह जान पाते हैं कि हमारी चौकी विषयक ज्ञान सही है। और जब वह ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जान सका तो वह कर्म नहीं रहा इसी कारण वह अपनेको प्रत्यक्ष नहीं करता, लेकिन बात यह नहीं है। जिस मनुष्यको हम मानते हैं और बराबर काम कर रहे हैं तो काम हमारा तब ही बनता है ना जब हम बराबर सही सही जानते रहते हैं। तो साथ ही साथ यह निर्णय बना हुआ है कि मेरा ज्ञान सही है।

स्वके प्रामाण्यके लिये स्व ही समर्थ उस ज्ञानका सहीपना समझनेके लिए दूसरा ज्ञान पैदा करनेकी जरूरत नहीं रहती। तो स्वयं कर्ता रहे, स्वयं करण बन जाय, इनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है और यह परसे उत्पन्न होनेसे कर्म बने तो वहाँ भी यह सब व्यवस्था गलत हो सकती है। और देखिये प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक प्राणी जिस पदार्थको जानता है उसके सम्बन्धमें यह अनुभव कर रहे। जैसे मैं चौकीको जान रहा हूँ तो चौकीको जानने वाले ज्ञानसे सहित मैं अपने आत्माका स्वयं अनुभव कर रहा हूं ऐसी प्रतीति सब प्राणियोंकी होती है, इस कारण अपने ज्ञानको भी प्रत्यक्ष माना। वह भी जाननेका कर्म है। देखिये जैसे कोई आत्मा अपने आपको मना करे कि मैं नहीं हूं तो यह संगत तो नहीं। जिसमें न का विकल्प आया वही है आत्मा, और व्यवहारमें देखो कोई मनुष्य यह कहने लगे कि मैं नहीं हूं तो लोग उसे पागलसा कहेंगे।

स्वको स्वमें ही खोजनेसे कार्य सिद्धि ऐसे ही जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको जान रहे हैं उस ज्ञानके स्पष्ट भानको मना किया करते है यह बात कैसे ठीक बने? मैं हूं ज्ञान स्वरूप हूं, सर्वत्र ज्ञानसे भरा हुआ हूं और जाननेका ही काम करता हूँ। तो जैसे अंगुली हिलायी जाय तो यह कहा कि अंगुली अकेली चीज है। हिलाना अलग चीज है और मुड़कर जो अंगुलीमें कष्ट हुआ हैं वह अलग चीज है, क्या यह बात है? ये सब अंगुलीकी बातें हैं, उसीके धर्म है, हाँ स्वरूपसे न्यारी न्यारी बातें हैं पर चीज तो एक है इसी प्रकार हम हम जानते हैं, वे सब एक ही बात हैं। ज्ञान ज्ञानकी बात है। अन्य बात नहीं हुई। तो जिस ज्ञानसे हम सही बनावे उसी ज्ञानको मात्र करें तो यह दर्शन सही नहीं बैठता। एक कोई बाबूजी थे तो वे अपमें दफ्तरमें सारी चीजे व्यवस्थित ढंगसे रख रहे थे, घड़ीकी जगह लिख दिया, कमीजकी जगह कमीज,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कोटकी जगह कोठ लिख दिया। छाताकी जगह छाता लिख दिया। जिस बिस्तरपर लेटे उसपर मैं लिख दिया कि यहाँपर मैं पड़ा हूँ। सो गए, जब आँखें खुली तो झट सारी चीजोंपर निगाह डाली। यह देखने लगा कि हमारी सारी चीजें जैसीकी तैसी रखी हैं या नहीं। देखा तो सभी चीजें ज्यों की त्यों रखी थी। पर पलङ्गपर देखा तो वहाँ लिखा था "मैं"। पलंगसे बाहर खड़ा हुआ देख रहा है। इस पलंगपर 'मैं" न दिखा तो पलंगको झटक कर, निवाढ़को इधर उधर खिसकाकर देखा पर उसका "मैं' कहीं न मिला। लाठी मारकर उस "मैं" को जमीनपर टपकाना चाहा पर वह "मैं' न टपका। सोचा—ओह ! मेरा तो मैं गुम गया। परेशान होकर अपने मित्रको पुकारने लगा अरे मित्र मेरा मैं गुम गया। मित्र सोचता है कि आज बाबूजी यह क्या बक रहे हैं। यह तो कहते हैं कि "मैं" गुम गया। सो मित्रने कहा अच्छा बाबूजी आप थके हुए हैं, सो जावो, आपका "मैं" अभी आपको मिल जायगा। बाबूजीको विश्वास हो गया, पलंगपर लेटकर सो गये। कुछ देरबादमें मित्रने जगाया और कहा देखो बाबूजी आपका "मैं" मिला कि नहीं। जब बाबूजी जगे तो अपने आपपर हाथ फेरने लगे और कहने लगे – ओह ! मिल गया मेरा "मैं" तो जैसे मैं गुम गया मैं गुम गया ऐसा कोई बके तो पागलपन जैसी बात है इसी तरह कोई अपने ज्ञानस्वरूप को मना करे मेरे ज्ञान ही नहीं है, मैं ज्ञानको जानता ही नहीं ऐसा जो बकता फिरे वह तो एक पागलपनकी बात है।

ज्ञानके द्वारा ही सर्वज्ञेयकी प्रतीति – ज्ञानके द्वारा सब पदार्थ प्रतिभासमें आते हैं। उन पदार्थोंको तो हम कहते कि ये प्रत्यक्ष हो रहे हैं और जिस ज्ञानके प्रताप से ये प्रत्यक्ष हो रहे हैं उस ज्ञानको कहा कि वह तो जाना नहीं जाता, उसका तो भान ही नहीं है, उसका तो प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता तो यह बात दार्शनिककी न चल सकेगी। जो स्वभाव हमारी प्रतीतिमें आया है उसको हम कैसे मना कर सकते हैं। अब हम एक पदार्थको तो मान लें कि प्रत्यक्ष है और एक को न मानें तो एक प्रतीतिमें आये हुएको मना करें तो सबको मना करें फिर कोई व्यवस्था नहीं बनती। ज्ञान प्रत्यक्ष है, हम अपने आपको जानते हैं, अपने स्वभावको समझते हैं, उस रूप अपनेका अनुभव करना चाहिए। मैं देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, इसका बराबर चिन्तन करना चाहिए, भावना भायें। जो बात वास्तविक है उसीके लिए कहा जारहा है मिथ्या कार्यके लिए नहीं कहा जा रहा है। मैं रूप, रस, गंध, स्पर्श रहित हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, आनन्दमय हूँ, इसमें धन, वैभव, मकान, महल, परिजन कुछ नहीं हैं। इस लोकमें मेरा कहीं कुछ नहीं है। मैं तो अपने आपके स्वरूपके ही निकट रहता हुआ अपने आपको बराबर निरखता रहूँ तो मेरेलिए कहाँ संकट है ? ये सर्वसमागम तो स्वप्नवत् असार हैं। लोगोंके प्रश्न करनेके लिए अपने आपमें विकल्प रचना यह तो तत्त्वज्ञानीका काम नहीं है। अपने तत्त्वज्ञानसे अपने आपको प्रसन्न बनाये रहना और फिर स्वयं ही होगी ऐसी प्रवृत्ति कि दूसरे लोग भी बुद्धिमान होंगे और प्रायः सभी

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रसन्न रहेंगे। अन्यथा किसकी इज्जत है सो बतलावो ? कोई विशिष्ट ज्ञानी है तो ज्ञानी पुरुष ही थोड़ी प्रशंसा करेंगे कि यह विशिष्ट ज्ञानी है और जो अज्ञानियोंका समुदाय है वे तो न जाने क्या क्या बक जाते हैं ? इज्जत है कहाँ बतलाओ ? चार आदमी पूछने वाले हैं तो दस आदमी उसका बिगाड़ करने वाले हैं और विरोध करने वाले है। इस संसारमें कोई तो अच्छा कहने वाले लोग हैं और कोई बुरा कहने वाले लोग हैं। इसलिए इस संसारमें किसीको प्रसन्न करनेका विकल्प मचाना कोई विवेक नहीं है। अपने स्वरूपको निरखकर अपनेमें प्रसन्न रहना यह विवेक है। वह स्वरूप है ज्ञान और स्वयं प्रत्क्ष हुआ करता है।

जानकारी ज्ञानका ही धर्म - ज्ञानसे पदार्थोंको जानकर भी जो लोग ज्ञान से भान होना नहीं मानते उनसे यह पूछा जा रहा है कि पदार्थोंका जो प्रतिभास हो रहा है, प्रत्यक्ष हो रहा है यह जो प्रत्यक्षरना है वह उस पदार्थका धर्म है या ज्ञानका धर्म है ? जो जानकारी बन रही है यह जानकारी क्या पदार्थका धर्म है या ज्ञानका धर्म है ? पदार्थका धर्म तो कह नहीं सकते, क्योंकि यदि जानकारी पदार्थका धर्म हो जाय तो पदार्थ तो सबके लिए एक सा है। हम जब पदार्थोंको जान रहे हों उस समय भी सबको पदार्थ जाननेमें आने चाहिएँ। या न जान रहे हों हम तो भी सभी आत्मा-ओंको पदार्थोंकी जानकारी हो जानी चाहिए, क्योंकि जो जिसका धर्म है वह उसमें सदैव रहता है। जानकारी होना यदि पदार्थका धर्म होता तो क्यों नहीं सबको एक साथ जानकारी होती ? आत्मामें ही ज्ञानके कालमें अपना विशेष रूपसे पदार्थ का भान हुआ करता है, प्रत्यक्षपना होना पदार्थका धर्म नहीं। जो जानकारी बन रही है, समझ उठा करती है वह समझ पदार्थका धर्म नहीं है, क्योंकि पदार्थके विकास में ज्ञानके कालके अलावा अन्य समय भी अनेक आत्मावोंको उसकी जानकारी रहनी चाहिए पर होती तो नहीं। इससे समझ बनना पदार्थका धर्म नहीं है। बात बहुत सीधी चल रही है। थोड़ा ध्यान आदिकसे सब समझमें आ जायगा पर ध्यान ही बिगाड़ें तो समझ कहाँसे हो सकेगी ?

अभ्यास द्वारा ज्ञानकी वृद्धि - कुछ तो लोगोंके चित्तमें यह बात बैठी होती कि जो विषय कठिन है उसके समझनेकी हममें बुद्धि नहीं है, लेकिन ऐसी बात नहीं है। जैसे आप ज्ञानस्वरूप है तैसे अन्य मनुष्य भी ज्ञानस्वरूप हैं। समझना तो आत्मा से ही है। अजीव तो समझा नहीं करते। जब ज्ञानस्वरूप हम आप सब हैं तब कौन सी जानकारी ऐसी है जो हम आप सबसे नहीं बन सकती। किन्तु, जब एक मनमें ऐसी कायरता सवार हो जाती है कि ये बातें तो बड़ों बड़ोंके समझनेकी हैं, हम क्या समझें, पर बड़े भी कहीं आकाशसे तो उतरे नहीं हैं, जैसे हम आप घरमें उत्पन्न हुए हैं वैसे ही वे भी हैं, पर उन्होंने अभ्यास बनाया जिससे उनका परिज्ञान बढ़ गया। अभ्यास होनेसे सब बात समझमें आती है। यहाँ इस बातका खण्डन किया जा रहा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है कि जो समझ हुआ करती है,जानकारी बन रही है यह जानकारी पदार्थका धर्म नहीं है। सभी लोगोंके मनमें तह बात उठ रही होगी कि जानकारी तो ज्ञानका धर्म हुआ करता है। पदार्थका धर्म कैसे ? तो चलो दूसरा बिकल्प भी लीजिए। पूछा जा रहा है उनसे जो ज्ञानका ज्ञान होना नहीं मानते। जिस ज्ञानसे हम पदार्थोंकी समझ तो बनाया करते हैं उस ही ज्ञानका हम लोप करें, अभाव मानें, विरोध करें उनके प्रति कहा जा रहा है कि क्या यह जानकारी इसका धर्म है ? अर्थका धर्म तो बना नहीं।

ज्ञानके ज्ञातृत्वमें अन्यकी अनावश्यकता—शायद यह कहो कि जिस आत्माको ज्ञानके द्वारा पदार्थ भावमें आया है उसके ज्ञानके समयमें उस ही पुरुषको वह अर्थ प्रत्तक्ष होता हैं भानमें आता है, यह ही केवल कथन मात्र है, क्योंकि जब ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं माना, अर्थको बताने वाला जो ज्ञान है उस ज्ञानकी जब प्रमाणता नहीं माना तो पदार्थका भी ज्ञान नहीं बन सकता। जैसे कोई लोग कहते कि दीपकपर पदार्थोंको तो प्रकाशित करता है पर खुदमें उजेला कुछ नहीं है तो क्यों जी ऐसा दीपक जिसमें खुद उजेला न हो तो वह दूसरे पदार्थपर उजेला कर सकता है। क्या ? नहीं कर सकता। ऐसे ही यह ज्ञान यदि स्वयं प्रकाशमान नहीं है, उसकी खुद समझ नहीं बनती तो पदार्थमें भी समझ नहीं बनती। खुदके प्रकाशित हुए बिना पदार्थकी यदि समझ मान ली जाय तो दूसरे आत्माके ज्ञानके द्वारा हम जान जायें जिस चाहे पदार्थको। जब खुदका ज्ञान भानमें न रहकर पदार्थका ज्ञान कराता रहता है तो दूसरेका भी ज्ञान हमारे भानमें नहीं है तो उससे भी हम ज्ञान कर रहे। शायद यह कहो कि आँखके द्वारा हम वस्तुको जानते हैं, देखते हैं, पर आँखसे दिखना नहीं बन रहा, हम आँखसे सब पदार्थोंको तो जान लेते हैं पर आँखको नहीं जानते। ऐसे ही हमारा ज्ञान है। कि हम ज्ञानको नहीं जान पाते। यदि ऐसा कहो तो यह बात यों युक्त नहीं है कि जानकारीका साधन आँख नहीं हैं, इन्द्रिय नहीं है। जानकारीका आन्तरिक साधन तो ज्ञान ही है।

इन्द्रिय एवं पदार्थोंके ज्ञानमें निमितत्त्व - और ज्ञानके द्वारा जब हम पदार्थोंकी जानकारी किया करते हैं तो वहाँ इस छदमस्थ अवस्थामें एक आँख या अन्य इन्द्रिय एक निमित्त कारण होती है, इस ल्याकरण आँख आदिक इन्द्रियको हम उपचारसे पदार्थोंको जानने वाला कहते हैं। पर पदार्थोका समझने वाला तो ज्ञान ही है। और, देखिये—दो प्रकारके पदार्थ होते हैं एक तो कारक और एक ज्ञापक। एक तो करने वाला और एक जानने वाला। तो करने वाले पदार्थमें तो यह बात बन जायगी कि वह ज्ञात भी न हो तो भी अपना कार्य कर बैठेगा। जैसे आग पड़ी है पीछे हमारा पैर पड़ गया आगपर, हम आगको जान न सके तो क्या वह आग जलाने का काम बन्द कर देगी ? अरे इसने मुझे नहीं जाना है तो मैं इसे कैसे जलाऊँ। तो जो कारक पदार्थ होता है वह तो विना जाने भी अपना काम बराबर कर सकता है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसमें विरोध नहीं है, पर जो ज्ञापक पदार्थ है, जानने वाला पदार्थ है वह जाननेमें न आये और पदार्थके जाननेका काम कर डाले यह बात नहीं बन सकती। एकका उदाहरण किसी विलक्षण दूसरेके लिये नहीं दिया जा सकता। तो जितने भी ज्ञान वाले पदार्थ हैं, आत्मा है, ज्ञान है वे बिना जाने नहीं सकते। खुदकी जानकारी खुद की प्रतीति खुदका भान हुए बिना वह पदार्थको नहीं जान सकता। जरा भी किसीमें बुद्धि हो तो यह अवश्य मान लेगा कि जो ज्ञापक करण है, जाननहार पदार्थ है वह बिना जाने अपना काम नहीं कर सकता। शायद यह कहो कि ज्ञान तो जाननेमें नहीं आता, पर जाननहार जो आत्मा है वह ज्ञानमें नहीं आता, पर जाननहार जो आत्मा है वह ज्ञानमें आ जाता है, उससे व्यवस्था बन जायगी तो अच्छी बात है। उसीसे व्यवस्था बनाओ फिर ज्ञान माननेकी जरूरत क्या रही? जानने वाला आत्मा है, खुद समझदार है, पर पदार्थोंको जानता रहता है, एक अलग ज्ञान माननेकी क्या आवश्यकता रही? और कोई माने भी तो आत्मा ही वह कहलाया।

आत्मासे ज्ञानका अपृथक्त्व—आत्मासे अलग कोई ज्ञान नहीं कही जा सकती कि जो जानकारी हो रही है वह पदार्थका धर्म है जो ज्ञानका भान नहीं ज्ञान का प्रत्यक्ष प्रतिभास नहीं मानते, उनसे पूछा जा रहा है कि यह जो समझ, बन रही है यह जो पदार्थकी जानकारी यदि यह ज्ञानका धर्म है ऐसा मानते हो तो यह भी ठीक यों नहीं बैठता कि ज्ञानको तो तुमने सर्वथा परोक्ष माना। भानमें आता ही नहीं है। तो जो सर्वथा परोक्ष है वह प्रत्यक्षपने रूप ज्ञानका आधार नहीं बन सकता यह प्रत्यक्षपका आधार ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान समझमें ही नहीं है, परोक्ष है। जैसे भाग्य आदिक ये परोक्ष हैं तो प्रत्यक्षमें रूप धर्मका आधार नहीं बन सकता। तुमने सर्वथा परोक्ष ज्ञानको माना। यदि सीधी बातको न मानकर मिथ्या बात मानता है तो उसे बहुत विकल्प करने पड़ते, कर्थकी परेशानी दिमागमें लानी पड़ती है। कोई भी भी घटना हो, सीधी सही कह दी जाय तो उसमें न अशान्तिका अवसर है न विकल्प मचानेका अवसर है और बिना ही प्रयोजन कुछ लाभ भी नहीं है। और, मिथ्या कल्पनाएं की जायें तो उससे आत्माका हित नहीं है।

घर धनादि वैभवमें ज्ञानसे विरुद्ध स्वभावकी उपलब्धि—अब यह देखिये सीधी सच्ची बात है कि घर, धन वैभव, सभी जीव ये जुदे जुदे हैं, देह भी अपना जुदा है, क्योंकि आत्माका जो कुछ अनुभव होता है वह एक अमूर्त आत्मामें ही होता है। शरीरमें अनुभव नहीं होता। जब कोई मानसिक चिन्ता बन जाती है तब दिलपर बहुत ज्यादा असर बना लिया जाता है टोटा होनेसे या किसी भी कारणसे यदि मानसिक चिन्ता बन गयी तो बड़े कोमल गद्दोंपर पड़ा हुआ भी यह आत्मा तड़फता रहता है। भीतरमें अनुभव करके देखिये कि तड़फता कौन है? यह शरीर तड़फता है या आत्मा? तो सीधीसी बात है कि यह आत्मा सबसे न्यारा है, फिर भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

घर, कुटुम्बीजन, धन वैभव, इज्जत इत्यादिको मान लेना कि ये मेरे हैं तो ऐसी अट-पट मान्यताऐं कर लेनेका दण्ड तो खुदको ही भोगना पड़ेगा। सबंसे विविक्त ज्ञान स्वरूप प्रभुके सदृश्य निर्मल ज्ञानधन स्वभावमें होकर भी यह आत्मा कीड़ा मकोड़ा पशु पक्षी, स्थावर जैसी खोटी स्थितियोंमें खोटे देहोंमें फसता चला जा रहा है। अपने आपकी चतुराई बगरानेका यही फल है। वस्तुके सम्बन्धमें भी सीधी सच्ची सही बात मान लेना चाहिए।

ज्ञानमात्र ही समस्त विश्वको जाननेमें समर्थ यह प्रकरण चल रहा है उस सिद्धान्तके निराकरण का जो सिद्धान्त यह मानता है कि हम ज्ञानके द्वारा सारे विश्वको भी चाहे जान लें, पदार्थको हम जानते रहते हैं, किन्तु वह ज्ञान जाननेमें स्वयं नहीं आया ज्ञान परोक्ष होता है, प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, ऐसा मानने वाले ज्ञान की सत्ता कैसे सिद्ध कर सकेंगे ? ज्ञान भी है या नहीं ? ऐसा तो मानते हैं वे भी कि ज्ञान तो है पर भानमें नहीं आता, समझमें नहीं आता, प्रत्यक्ष नहीं होता, सर्वथा परोक्ष है। तो तब ज्ञान सर्वथा परोक्ष मान लिया तो ज्ञान है भी यह सिद्ध करके बतावो जरा ? क्या ज्ञानका सद्भाव प्रत्यक्षसे सिद्ध करोगे या अनुमान आदिकसे। प्रत्यक्षसे तो सिद्ध यों नही कर सकते कि प्रत्यक्षका विषय ही ज्ञान नहीं है। ज्ञान प्रत्यक्ष मानता ही नहीं है। जो जिसका विषय नहीं होता वह उसकी व्यवस्था नहीं बना सकता। जब प्रत्यक्षका विषय ही ज्ञान नहीं है तो प्रत्यक्ष क्या व्यवस्था बनायेगा ज्ञानकी ? ज्ञान है यह सिद्ध कैसे किया जा सकेगा ?

ज्ञानकी प्रतीतिके अभावमें ज्ञानसत्ताकी अनुपलब्धि—जैसे हम लोग परमाणु आदिकको नहीं जानते तो क्या हमारा ज्ञान परमाणुकी व्यवस्था बना सकता है ? प्रत्यक्ष ज्ञान विषय वाला नहीं है ऐसा मानते हैं तो ज्ञानकी सत्ता ही सिद्धि होना मुश्किल है। यदि ज्ञान खुदकी समझमें न हो तो अपने ज्ञानसे अनुभव कर लीजिये कि जब कभी आप किसी पदार्थको जानते हैं तो पदार्थको जाननेके साथ जैसे पदार्थ भान में प्रतीतिमें हैं या नहीं ? मैं जानता हूँ ऐसा भान है या नहीं। और, मैं अपने ही द्वारा जानता हूँ यह भी प्रतीति है लेकिन जो लोग मैं की तो प्रतीति मान लें पर ज्ञानकी प्रतीति न मानें उनसे पूछा जा रहा है ज्ञानकी सत्ता तुम कैसे सिद्ध करोगे। प्रत्यक्षसे तो कर नहीं सकते, अनुमानसे भी नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञानकी सत्ता सिद्ध कर सके ऐसा कोई साधन नहीं है। किस हेतुके द्वारा तुम ज्ञानको सद्भूत सिद्ध करोगे ?

प्रत्यक्षके सदृश अनुमानके प्रामाण्यकी सिद्धि—अनुमानका ढङ्ग यों होता है, किसी बातको सिद्ध करना हो तो वह बात रख दें और हेतु बतायें, कारण बतायें जैसे किसी कमरेमेंसे धुवां निकलता हो तो यह अनुमान हो जाता है कि इस कमरेमें आग है, क्योंकि धुवा उठ रहा है। तो धुवा उठ रहा है जो ज्ञान हुआ यह तो हुआ साधनका ज्ञान, हेतुका ज्ञान और फिर अनुमान क्या बना कि इस कमरेमें आग है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखो अभ्यास भी एक पक्का प्रमाण होता हैं। लोकव्यवहारमें अनुमानका अर्थ लोग अन्दाज लगाते हैं पर अनुमानका अर्थ है पक्का ज्ञान, सहीज्ञान। कहीं धुवां उठ रहा है तो उसे निरखकर आप जान जाते हैं कि यह आग है तो क्या आप कुछ संशय रूपसे जानते हैं ? इसमें अन्दाजकी क्या बात ? यह तो बिल्कुल पक्का ज्ञान है। पक्के ज्ञानका नाम अनुमान है, जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धुवां नहीं हो सकता है अतएव अग्निका आप पक्का ज्ञान कर लेते हैं और वह ज्ञान हमारे आपके चित्तमें स्पष्ट है, जैसे आगको प्रत्यक्षसे देखा इस तरहसे आप वहाँ आगका निर्णय कर रहे हैं पर प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, क्योंकि हम आँखसे नहीं जान रहे, तो अनुमान भी एक पक्का प्रमाण है, पर अनुमान वह सच्चा होता है।

ज्ञान ही परपदार्थके अस्तित्वको बतानेमें समर्थ जिसमें हेतु बहुत सच्चा हो, निर्दोष हो। जो लोग ज्ञानका भान नहीं मानते उनसे पूछा जा रहा है कि तुम ज्ञानकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे ? प्रत्यक्षसे तो कर नहीं सकते। यदि अनुमानसे करें तो उसका प्रत्यक्षसे तो कर नहीं सकते। यदि अनुमानसे करें तो उसका कोई हेतु बतावो ! यदि यह हेतु बताओगे पदार्थकी चूँकि जानकारी हो रही है इस कारण ज्ञान अवश्य हैं अथवा क्या यह हेतु बतावोगे कि इन्द्रिय और पदार्थ दोनों मौजूद हैं, इससे ज्ञानकी सत्ता सिद्ध होती है या यह हेतु कहोगे कि उसमें सहकारी करनेमें जो निपुण मन मौजूद है इससे ज्ञानकी सत्ता है। ये तीन विकल्प पूछे गये कि तुम किस हेतुसे ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करोगे कि ज्ञान भी तत्त्व है। यदि बहुत विकल्प उठाकर ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करोगे तो चूँकि पदार्थकी जानकारी चल रही है इस कारण ज्ञान सत्ता है तो बतलावो कि पदार्थकी यह जानकारी क्या ज्ञानके स्वभावरूप है ? या उस पदार्थके स्वभावरूप है, जो जानकारी बन रही है उस जानकारी बन रही है उस जानकारीके लिए पूछा जा रहा है। यदि कहो कि वह जानकारी ज्ञानस्वभावरूप है तो उस ही ज्ञानकी तो सत्ता सिद्ध करवाना चाहते हैं और हेतु भी तुम ज्ञानस्वभावरूप देते हो तो उससे तो अनुमान न बनेगा। कोई यों कह बैठे कि इस कमरेमें आग लगी है क्योंकि आग होनेसे तो यह कोई सही अनुमान बना क्या ? आगको प्रत्यक्षसे देखकर क्यों बोल रहे, सीधा बोल दो कि इसमें आग है, फिर हेतुकी क्या जरूरत ? जिस आगकी हमें जानकारी नहीं है।

साध्यके ज्ञानमें सत्य हेतुकी उपादेयता—जिसको हम सिद्ध करना चाहते तो उसके लिए जो हेतुदिया है आग होनेसे वह भी असिद्ध है, यह तो जो चाहे कह बैठे, किसी भी तत्त्वको बातको सिद्ध करना हो तो उसी बातका हेतु देते हैं आग होनेसे, वह भी असिद्ध है, यह तो जो चाहे कह बैठे। किसी भी तत्त्वको बातको सिद्ध करना हो तो उसी बातका हेतु देदो। हेतु कुछ ऐसा हो जो सबको मान्य हो। इस प्रकार ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेकेलिए तुम हेतु देते हो कि पदार्थकी जो जानकारी हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रही है इस कारण ज्ञान अवश्य है। और उस पदार्थकी जानकारीको तुम ज्ञानस्वभावी कहते हो तो ज्ञानस्वभावकी ही तो सिद्धि करना है, और हेतु देते हो ज्ञानस्वभावका तो यह कैसे सिद्ध हो सकता है, इस मनुष्यको प्यास लगी है क्योंकि प्यास लगी होनेसे यह क्या बात ठीक होगी ? हाँ अगर ऐसा कहो कि ओंठ सूख रहे हैं, चित म्लान हो रहा है, ऐसे कुछ हेतु दो तो बात ठीक बन जाय, अब जिस चीजको सिद्ध करना हो उसीका ही हेतु देदो तो यह बात ठीक नहीं है। ज्ञान स्वभावात्मक पदार्थकी जानकारीमें ज्ञानकी सत्ता क्या सिद्ध करते हो ? हो गया ज्ञान मौजूद है पर वह प्रत्यक्ष बन बैठा।

ज्ञानमें ही ज्ञेयका प्रतिभासत्व - एक अचम्भेकी बात यह बन जाय कि जानकारीको तो ज्ञानस्वभावरूप मान लिया, उसका भान नहीं होता। कैसा विचित्र दर्शन बन रहा है यह, सिवाय एक महान मोह, अज्ञान पड़ गया कि जिससे सीधी साफ बात जो ज्ञान हमारे भानमें बराबर आ रहा है उसे तो नहीं मानते और पदार्थ की जानकारी स्पष्ट मानते चले जाते हैं। सही बात है यह और उसे मानना चाहे कि मैं सबको जानता हूँ और अपने द्वारा जानता हूँ तो इस जानकारीके प्रसङ्गमें हमें जिस पदार्थका स्पष्ट भान हुआ है—यह है चौकी, यह है घड़ी, ऐसे ही स्पष्ट यह भान होता है कि मैंने जाना है और सही जाना है, ज्ञानसे जाना है। ये सब बातें भी मेरे अन्दर स्पष्ट पायी जाती हैं। तो अपनेको ज्ञानस्वरूप समझो और मैं अपनेको हमेशा चेतता रहता हूँ। चाहे किसी रूपमें जानूँ, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि ज्ञानरूपमें जाने, पर अपना भान सभी जीव किया करते हैं। उस अपने आत्माकी सही सुध लो और संसारके संकटोंसे मुक्त होवो।

पदार्थकी जानकारी और ज्ञानके एकत्व— भैया ! जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जानते हैं पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाता है, किन्तु वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। उसका भान नहीं रहता, ऐसा ज्ञानको परोक्ष मानने वालोंके प्रति पूछा जा रहा है कि यदि यह ज्ञान प्रत्यक्षमें नहीं आता तो फिर ज्ञानकी सिद्धि ही करना कठिन हो जायगा। हम कहेंगे लो, ज्ञान तो कुछ होता ही नहीं, तो उसकी सिद्धि बनाओ फिर, प्रत्यक्षसे तो परोक्ष ज्ञानकी सिद्धि हो नहीं सकती। अनुमानसे सिद्धि तब हो इस परोक्षज्ञानकी जब परोक्षज्ञानको सिद्ध करने वाला कोई हेतु साधन हो वह साधन अर्थकी ज्ञानकारी नहीं बन सकता अर्थात एक परोक्ष ज्ञानको सिद्ध करनेके लिए यदि हेतु यह दोगे कि चूँकि पदार्थकी जानकारी हुआ करती है इससे ज्ञान अवश्य है। तो भाई कुछ तो पहिले ही उत्तर दे दिया और आखिरी बात यह बतला रहे हैं कि पदार्थकी जानकारी और ज्ञान क्या ये दो बातें अलग अलग हैं ? चौकीकी जानकारी और ज्ञान ये दो अलग अलग चीजें नहीं हैं, सिर्फ शब्दोंका फर्क है। तो शब्द मात्रके भेदसे ज्ञानको परोक्ष मान लेना और पदार्थकी जानकारीको प्रत्यक्ष मान लेना यह तो तुम्हारी स्व-

च्छन्दताकी बात है। जो मनमें आया सो कह डाला वहाँ भाव तो एक ही है। उसमें पाया गया अर्थ तो अभिन्न है शायद यह कहो कि वह ज्ञानरूप है इस कारण उसमें विरोध है जानकारीके रूपमें प्रत्यक्षताका विरोध नहीं तो यह भी तुम्हारी स्वच्छन्द की कल्पना है और जब ज्ञानरूप होनेसे ज्ञानकी प्रत्यक्षताका विरोध है तो पदार्थकी भी प्रत्यक्षताका विरोध हो जायगा। पदार्थ जाननेमें आ रहे यह जानकारी यदि स्पष्ट है जिस ज्ञानके द्वारा हम पदार्थको जान रहे हैं, जानना और ज्ञान ये दो अलग अलग चीजें नहीं हैं।

आत्मानुभवके बिना ज्ञेयका ज्ञान असभव - देखिये वह अर्थकी जानकारी यदि अर्थके स्वभावरूप है, चौकीकी जानकारी यदि चौकीके स्वभावरूप है तो इसका अर्थ यह हुआ ना कि चौकीकी स्पष्टता हुई तो उस चौकीकी स्पष्टता करना एक पदार्थको जानने वाले ज्ञानको स्पष्ट माने बिना नहीं बनता और फिर यदि वह जानकारी उस पदार्थमेंसे हो निकली है तो उस जानकारीका फिर हम आधार आत्माको क्यों बनाया करते ? कि मैंने यह पदार्थ जाना; जो जाना गया है यह पदार्थ वह मेरे द्वारा जाना गया है। उस ज्ञानका आधार मैं हूँ। आत्माके अनुभव बिना यह बात नहीं बनती कि मैंने पदार्थ जाना। पदार्थकी जानकारी यदि पदार्थका धर्म है तो ऐसा अनुभव होना चाहिए खुदमें पदार्थको कि मैंने जाना पर चौंकीको क्या यह अनुभव होगा कि मैंने जाना। इसलिये जानकारी पदार्थका धर्म नहीं है, आत्माका धर्म है, और उस जानकारीका आधार यह मैं आत्मा हूँ। बात बहुत सीधीसी लग रही होगी, अरे ज्ञानका आधार तो आत्मा है। ये दूसरे दर्शन वाले इस ज्ञानको स्पष्ट भान होने का मना क्यों कर रहे हैं ?— और कैसे मना कर रहे हैं तो उनकी युक्तियाँ अभी सुनी ही होंगी।

अनेक मत मतान्तरके उद्भवमें यशोलिप्सा ही कारण - देखो भैया ! दर्शन जो बनता है सिद्धान्त, अनेक प्रकारके मजहब जो बना करते हैं वे दो अभिप्रायों से बना करते हैं–एक तो उस जानकारीका मर्म विदित नहीं हुआ और ऊपरी ऊपरी जानकारीसे जो स्पष्ट जल्दी सुगमतया लगने लगे एक तो उस आधारपर सिद्धान्त दर्शन मजहब धर्म आदिककी रचना बना देते हैं लोग। और दूसरी बात यह है कि जैसे आजकलका जमाना यह है कि चाहे बातमें दम न हो, सच न हो लेकिन कोई एक ऐसी विलक्षण बात कही जाय कि जिससे लोग अचरजमें पड़ जायें, यह तो नई बात खोजी है, उसमें कुछ अपना प्रभाव समझा जाय। यह बात जैसे आजके युगमें है ऐसे ही पहिले भी थी, तो इसी कारणसे अन्य अन्य नये नये मजहब बना करते हैं। एक कारण तो यह है कि न जानकारी स्पष्ट हो पायी सो बन गए। न उस तत्त्वके मर्म तक पहुँच सके और दूसरा कारण है नये नये नाना सिद्धान्त और मजहबके बनने का कि जनताको कुछ नई बात बताना चाहिए ताकि हम जनतामें कुछ बुद्धिमान समझे

जायें, जनताका मुझपर आकर्षण हो इसलिये कुछ नये नये सिद्धान्त और मजहब होने रूपमें धर्मकी बात चलने लगा करती है, अर्थात् जो बात परम्परासे चली आयी हो हम यदि उसको ही मान कर रहे तो फिर हमारा अस्तित्व क्या रहेगा ? यह किन्हीं यशलोलुपी ऋषियोंमें बात आयी और फिर उससे नाना मजहब बने।

वास्तव तत्त्व माने बिना कथनमें सत्यताकी असंभवता- जिस ज्ञानके द्वारा हम जानते हैं वह ज्ञान स्वयं भानमें नहीं आया करता उसका भान दूसरे ज्ञानके द्वारा हो या न हो परोक्ष ही रहा आये ऐसा परोक्षज्ञान मानने वाले पुरुषोंको यह आपत्ति दी जा रही है कि ज्ञानका भान न हो ज्ञानके आधारभूत आत्माका भान न हो तो पदार्थका भान नहीं होता, और जब तक आत्माके आधारभूतका ज्ञान नहीं हो, जो जाना है वह मैंने जाना है ऐसा अपने आपके अनुभवके रूपसे ज्ञान न हो तो भी स्पष्टता नहीं आती है। अथवा फिर यह अनुभव न जगना चाहिए कि मैंने जाना, और फिर पदार्थकी जानकारी यदि पदार्थमेंसे ही उठी है, पदार्थका ही धर्म है तो फिर तो सबके लिये भी वह वही है। क्यों नहीं सब लोगोंको पदार्थका अनुमान हो जाता ? ज्ञान बन जाता। यदि यह कहो कि जिसकी बुद्धिसे पदार्थ जाना गया उसके लिए ही पदार्थकी जानकारी होगी और जिस ज्ञानका अनुमान होगा तो यह बात इसलिये असार है कि बुद्धि और आत्मा ये सब परोक्ष माने हैं तो किसकी बुद्धि और किसका अर्थ ? सब अन्ध परम्पराकी व्यवस्था है सीधा साधा सही तत्त्व माने बिना कितना ही तोड़ मरोड़कर सिद्धान्त रखे जायें तो सन्तोषकारी कथन नहीं बन सकता। सन्तोषकारी तो सीधा सीधा ज्ञान हुआ करता है। जैसा स्वरूप है, जैसा आत्मा है, जो कि पदार्थ है उस तरहका उसका ज्ञान हो तो शान्तिका मार्ग मिलता है।

ज्ञान और आत्माके एकत्व - यदि इस आत्माको प्रत्यक्ष मानते हो तो ज्ञान और आत्मा कोई जुदी चीज नहीं हैं। कोई यदि ऐसा कह दे कि अंगुलीने अपनी शक्तिसे कमण्डल, उठाया तो क्या अंगुलीकी वह शक्ति और यह अंगुली कोई जुदी जुदी चीज बन जायगी। एक उसने कहनेका यों ढङ्ग बनाया और कोई सीधा कह दे कि अंगुलीने कमण्डल उठाया तो इन दोनों बातोंमें कोई भेद है क्या ? भेद कुछ नहीं है। क्या शक्ति अंगुलीसे न्यारी चीज है ? नहीं। इसी तरह आत्माने ज्ञानके द्वारा जाना यों कहो या आत्माने जाना यों कहो तो इसमें कोई भावमें फर्क आया क्या ? एक कलात्मक ढ़ङ्गसे उसने कह दिया एक विश्लेषण करते हुए कह दिया। कहीं ज्ञान और आत्मा अलग अलग वस्तु न बन जायेंगे।

लोकव्यवहारके कर्तांकिरणके सदृश ज्ञान और आत्मामें पृथक्त्वका अभाव देखिये अन्य अन्य क्रियाओंमें तो कर्ता और करण न्यारे न्यारे बन जायेंगे लोकव्यवहारमें, पर जाननेके काममें कर्ता और करण न्यारे न्यारे नहीं हुआ करते। जैसे सुनारने हथौड़ासे इस चाँदीका आभूषण बनाया तो यहाँ करण है हथौड़ा और कर्ता है सुनार

तो ये दो न्यारी न्यारी बातें हुई कि नहीं ? हथौड़ा और सुनार एक तो नहीं हैं लेकिन आत्माने ज्ञानके द्वारा पदार्थ जाना यहाँ करण तो ज्ञान है और आत्मा कर्ता है ये दो न्यारे न बन जायेंगे। उसका सिद्धान्त तो यह हो सकता था कि जब कुल्हाड़ी और कोई पुरुष जो काठको छेद रहा है, जब ये न्यारी न्यारी चीजें हैं तो ज्ञान और आत्मा भी न्यारी न्यारी चीज होना चाहिए, पर कोई बात सब जगह एकसी नहीं लगायी जाती। किसी पुरुषने रस्सीको गोल गोल बना दिया तो यहाँ उस रस्सीको गोल बनाने वाला न्यारा है, पुरुष है, उसने एक उसकी ऐसी करदी और साँपने अपने शरीर को गोल बना डाला तो इसमें कोई दूसरा है क्या गोल बनाने वाला ? कहीं दूसरा भी होता है कहीं खुद भी होता है और निश्चय दृष्टिसे तो प्रत्येक पदार्थ खुदमें ही खुदका काम किया करता है कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थमें क्रिया नहीं किया करता।

ज्ञानभावके बिना पदार्थकी जानकारी असम्भव—ज्ञान अज्ञात रहकर बिना जाना हुआ बनकर अर्थात् ज्ञानका भान तो हो नहीं और पदार्थकी जानकारी चलती रहे यह बात नहीं बन सकती। आत्मा ही पदार्थकी जानकारीसे परिणमता हुआ जानता है। आत्मा ही ज्ञान हुआ करण साधनसे बोलो तो आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है। लोग यों बोल देते, पर यह केवल एक साधन व्यवहारका फर्क है। मर्म और पदार्थकी बात दोनों जगह एक है। कोई कहे कि बालक पुस्तक पढ़ रहा है और कोई कहे कि बालकके द्वारा पुस्तक पढ़ी जा रही है तो इन दोनोंमें काम जुदा जुदा हुआ क्या ? कि एक ही कामकी बात कही गयी। केवल एक साधनका भेद डाला गया है, पर बात कोई दूसरी नहीं कहीं गयी। तो जिस ज्ञानसे हम पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान हमारेमें पहिले स्पष्ट हो रहा है। वह स्पष्ट न हो तो पदार्थ जाना नहीं जा सकता।

स्वका ज्ञान स्वसे ही—प्रकरण यह है कि सिद्ध यों किया जा रहा कि ज्ञान स्वसम्वेदक है, ज्ञान परका भी और अपने आपका भी ज्ञान करता रहता है। परोक्ष ज्ञानवादियोंने यह तो मान लिया कि ज्ञान पर पदार्थका प्रकाश करता है, पर यह नहीं माना कि ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है। जैसे दृष्टान्तमें कहा जाय कि दीपक, बिजली खुदका भी प्रकाश करता है और परपदार्थका भी प्रकाश करता है। कमरेमें जो चीज रखी हुई है चौकी है उसका भी प्रकाश करता है और अपना भी प्रकाश करता है। अब इसमेंसे कोई इतनी बात तो मान ले कि दीपक पर पदार्थका भी तो प्रकाश करता है मगर खुदका प्रकाश नहीं करता, तो यह बात कोई मान लेगा क्या ? जो दीपक खुदका प्रकाश नहीं कर सकता वह पदार्थका भी प्रकाश नहीं कर सकता। क्या किसी जलते हुए लट्टूको देखनेके लिए कोई और रोशनीकी तलाश करता है ? नहीं करता ना ! कोई यह तो नहीं कहता कि हमें बैट्री या लालटेन लावो उस कमरे से लालटेन उठा लावें ! अरे, जो लालटेन जल रही है वह तो अपने आप मालूम पड़

जायगी कि यह जल रही है। ऐसे ही ज्ञान खुदमें प्रकाश करता है या नहीं करता ? हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान भी हमको एक निर्णय बताता हुआ जग रहा है या नहीं जग रहा है ? इस बातको पूछनेके लिए हम किसी दूसरेके पास जायें क्या ? हम चौकीको जान रहे हैं ऐसा ज्ञान मेरेमें है या नहीं ? या यह बात मैं किसी दूसरेसे पूछने जाऊँ क्या ? अरे, जिस ज्ञानसे जान रहे हैं वह ज्ञान उसीमें अपने आप स्पष्ट है।

ज्ञान भानकी अप्राप्तिमें ज्ञानसत्ताकी सिद्धि असम्भव—जो लोग ज्ञान को परोक्ष मानते हों अर्थात् जिस ज्ञानसे हम जानते हैं उस ज्ञानका भान हमें नहीं होता तो वे लोग उस ज्ञानकी सत्ता भी सिद्ध न कर सकेंगे न प्रत्यक्षसे न अनुमानसे। क्योंकि उसको सिद्ध करने वाला कोई हेतु नहीं है। यदि यह कहो कि ये इन्द्रियाँ और ये पदार्थ ये काहेके लिए हैं ? जब ये इन्द्रिय हैं और ये पदार्थ हैं तो इनकी सत्ता ही यह सिद्ध कर रही है कि कोई जानकारी हुआ करती है नहीं तो ये हैं किसलिए ? यह भी कहना तुम्हारा ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थ रहे आयें फिर भी कभी–कभी ज्ञान नहीं हो पाता है। कोई किसी योग्य देशमें ठहरा हुआ पुरुष है उसके इन्द्रियाँ भी मौजूद हैं, पदार्थ भी सामने मौजूद हैं और मन चला गया किसी और जगह तो ये इन्द्रिय और पदार्थ होकर भी यहाँसे ज्ञान कुछ नहीं बन रहा, तो इन्द्रिय और पदार्थसे करण ज्ञानकी सत्ता कैसे सिद्ध कर दोगे ?

जड़ताके कारण इन्द्रियां स्वको भी जाननेमें असमर्थ—देखिये प्रथम तो इन्द्रिय और अर्थमें ज्ञानके साथ अविनाभाव ही नहीं है और लगने लगे कि हुआ भी ज्ञान या अविनाभावपर इन्द्रिय तो इन्द्रियके द्वारा नहीं जानी जाती। पहिले तो यह दर्शन इन्द्रियसे सर्वथा अतीन्द्रिय मानता है, इन्द्रियगम्य नहीं मानता। खुद भी देख लो खुद इन्द्रियां खुदका ज्ञान नहीं कर पाती। आँख आँखको देख लेती हैं क्या ? आंखमें कोई लाली आ गयी तो आंखें कहां उसे देख पाती है। हां दर्पणसे देख लेते हैं। वह भी आंख नहीं दिखी, किन्तु दर्पणमें जो आखका प्रतिविम्ब दिखा है वह दिखा है उस से जाना कि आंख लाल है, आंख आँखको जान नहीं सकती। और, यह जीभ जीभ का स्वयं रस ले ? और बात तो जाने दो, यह शरीर भी अपने शरीरके टेम्परेचरको नहीं जान सकता। एक हाथसे दूसरे हाथको छुवा तब मालूम हुआ कि हां इतना टेम्परेचर है। यदि हाथ जहांके तहां रहें, एक हाथसे दूसरे हाथको छूकर न देखें तो नहीं मालूम हो सकता कि कितना टेम्परेचर है। तो ये इन्द्रियां खुद अपने आपकी बात नहीं जान सकती। तो इन्द्रियां तो अतीन्द्रिय हैं और पदार्थ अभी परोक्ष ही है अथवा ज्ञानके द्वारा अप्रत्यक्ष है उसका ही तो प्रकरण चल रहा है तो फिर इन्द्रिय और पदार्थ ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेमें कैसे हेतु बन सकते हैं ? अथवा सिद्ध हो जाय तो देखिये जो बात सिद्धकी जा रही है ज्ञान है क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ मौजूद होनेसे तो

Version 1

इन्द्रिय और अर्थकी भी जानकारी और इस ज्ञानकी भी जानकारी एक साथ बन नहीं सकती, क्योंकि परोक्षज्ञानवादी एक साथ अनेक ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं मानते ।

ज्ञान द्वारा युगपत् अनेक पदार्थोंका ज्ञान— जैन सिद्धान्त तो अनेक प्रकारका ज्ञान एक साथ किया जा सकता है ऐसा मानता है पर यह परोक्षज्ञानवादका दर्शन केवल एक बारमें एक चीज जानेगा । बहुत चीजें नहीं जान सकता । जैसे एक कभी यह आपत्ति दी कि भाई बेसनको खूब कड़ा गूथकर तेलमें पपड़ी बनायी जाय तो वह पपड़ी कितनी कड़ी बन जाती है । उसे कोई खाये तो देखो एक साथ कितने ज्ञान हो रहे हैं । मुंहमें जो चर्र चर्रकी आवाज आ रही है तो सुननेमें भी आ रही । नाकके आगे लटक रही तो तेलकी गंध भी आ रही है, कड़ी पपड़ी खा रहे हैं तो आंखों भी दिख रही हैं और कड़ी लग रही है तो स्पर्शका भी ज्ञान हो रहा है और खानेमें उसका रस भी स्वादमें आ रहा । तो देखो कितने ज्ञान एक साथ चल रहे हैं उनसे यदि यह बात रखे तो वह यही उत्तर देगा कि वहाँ भी क्रमसे ही ज्ञान हो रहा है, पर इतनी जल्दी जल्दी ज्ञान हो रहा कि पता नहीं पड़ता । जब पङ्खा बिलकुल तेज हाई स्पीडपर कर दिया जाता है तो यह मालूम पड़ता है कि इसमें पंखुड़ी लगी ही नहीं है अथवा कितनी पंखुड़ी लगी हैं इसका कुछ भी भान नहीं रहता है । अथवा जैसे कई पुरुष ५० पानोंमें एक सूई चुभो दे तो बतावो वे सारे पान एक साथ छिदे या क्रम क्रमसे ? लगता तो ऐसा है कि वे सब पान एक साथ छिदे पर ऐसा नहीं है । वे सब पान भी क्रम क्रमसे ही छिदे । ऐसे ही उस कड़ी पपड़ीके खानेमें लग रहा है ऐसा कि सब इन्द्रियां एक साथ जान रही हैं पर ऐसी बात नहीं है । वह सब ज्ञान भी क्रम क्रमसे ही हुआ करता है यों उत्तर देंगे । इतना क्रम मानने वाले ये परोक्षज्ञानवादी हैं । तो क्रम तो रहा नहीं करता । जब विज्ञानकी सिद्धि कर रहे कि ज्ञान है और उसकी सिद्धि करनेके लिए तुम जो भी हेतु दोगे तो उसकी भी तो जानकारी होना चाहिए । तो जब साध्यका ज्ञान किया जा रहा है तब साधनका ज्ञान नहीं । तो उनका कुछ बन ही न सकेगा । देखिये कभी यह अनुमान हो कि इस कमरेमें आग जल रही है क्योंकि धुवाँ उठ रहा है, अब इस बातको बिगाड़ना है क्योंकि यह मान रहा है कि सब ज्ञान क्रमसे होता है तो जब धुवां हमने जाना तब हमारे ज्ञानमें आग न रहे तो हम सिद्ध क्या करें ? जब हमने आग जाना तब धुवांका ज्ञान मिट गया तो हम सिद्ध क्या करें ? हम तो कुछ अनुमान बना ही नहीं सकते । जो ज्ञानकी उत्पत्ति क्रम क्रमसे मना करते हैं ।

अनेक पदार्थोंका ज्ञान एक साथ न माननेपर अनुमानकी असिद्धि— अनेक पदार्थोंका एक साथ ज्ञान हो सकता है यह बात न माननेपर वे अनुमान बना ही नहीं सकते । तो इस इन्द्रिय अर्थसे भी ज्ञानकी सिद्धि नहीं हो सकती । शायद यह कहो कि उत्तरकालमें जो ज्ञान होगा उससे सिद्ध होगा । तो जब ज्ञान हेतुका होगा

http://www.jainkosh.org

तब यह साध्य ज्ञान भी न रहेगा और दोनोंको विषय करने वाला कोई एक ज्ञान नहीं मानते हैं। अतः यह सिद्ध न कर सकेंगे ज्ञानको परोक्ष मानने वाले लोग कि ज्ञान भी दुनियामें कुछ हुआ करता है। जब ज्ञान सिद्ध न हो सकेगा तो परोक्ष और प्रत्यक्ष का फर्क चलाना यह श्रम करना तो व्यर्थ है। सीधे मानो कि मैं ज्ञानरूप हूँ मेरेमें ज्ञान शक्ति है, मुझमें ज्ञानका परिणमन चलता है, और उस ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि पदार्थको जानता रहे। तो अपने ही स्वभावसे पदार्थको जानता रहे। तो अपने स्वभावसे पदार्थको जानता रहता है। ये जाननेमें आये हुए पदार्थ मेरे कुछ नहीं लगते हैं, ये भिन्न हैं, मैं भिन्न हूँ, मैं ज्ञानस्वभावात्मक हूँ। ये सब अज्ञानरूप है। अपने आप के स्वभावका निर्णय बनायें और अपने स्वभावमय अपनी प्रतीति रखी जाय तो इससे अपने आपका निराला स्वरूप समझमें आयगा, मोह टूटेगा, रागद्वेष दूर होंगे और मोक्षका मार्ग प्राप्त हो सकेगा।

विज्ञानकी सिद्धिके लिये अन्य युक्तियाँ—जिस ज्ञानके द्वारा आत्मा पदार्थोंको जानता रहता है वह ज्ञान यदि भानमें न माना जाय अर्थात् उस ज्ञानकी जानकारी कबूल न की जाय तो फिर यह ज्ञान भी है इतनी तक भी सिद्धि न की जा सकेगी। वह ज्ञान अमूर्त है, इससे प्रत्यक्ष तो है नहीं और अनुमानसे भी यों न जाना जा सकेगा कि उस ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करने वाला कोई हेतु नहीं है। अब इस प्रसङ्गमें विज्ञानकी सिद्धि करनेके लिये शङ्काकारकी ओरसे तीसरा विकल्प रखा जा रहा है कि ज्ञान असत् है क्योंकि इन्द्रिय और पदार्थका सहकार लेकर एकाग्र जैसा कि यह मन है यह मन ज्ञानका साधन है, यह बात भी असंगत है क्योंकि मनकी ही सिद्धि पहिले कर ली। देखिये ! जब अपने आप स्पष्ट समझमें आ रहा है कि मेरा यह ज्ञान है, ज्ञानसे हम जानते हैं, उस ज्ञानका भी निषेध किया जा रहा है तो उसे सिद्ध करने के लिए जो भी युक्तियाँ दी जायेंगी जो भी साधन बताये जायेंगे वे सब भी सिद्ध नहीं हो सकते। मन है कहाँ बतलावो ? देखो है कहाँसे ? किसीको पकड़े हुए, बांधे हुए सिद्ध नहीं कर सकते और है सीधी सी बात, पर एक अपने ज्ञानको अपनी ही समझ में न माननेसे फिर कुछ भी सिद्ध न किया जा सकेगा। यदि यह कहें कि लो इस मन की सिद्धि करते हैं मन है क्योंकि एक साथ ज्ञान नहीं बन रहा है। एक साथ ज्ञान न बननेका चिन्ह मनमें मिलता है क्या ? और वह क्यों ऐसा हो रहा ? आत्माका तो है मनसे सम्बन्ध और मनसे है इन्द्रियका सम्बन्ध। तो जब आत्मामें तनसे सम्बन्ध बने और मनसे इन्द्रियका सम्बन्ध बने तब ज्ञान बनता है। तो इस काममें देरी रहती है तो क्रम-क्रमसे ज्ञान हो पाता है, यह बात अन्य मतावलम्बी दार्शनिक रख रहे हैं।

जैनसिद्धान्तमें क्रम-अक्रमसे कथंचित् ज्ञानकी उत्पत्ति—जैनसिद्धान्तमें तो किन्हीं वस्तुओंका क्रमसे भी होता है औद किन्हींका एक साथ भी होता है। शङ्काकारका ही कहना है कि जिस समय इस मनका आँखसे सम्बन्ध है उस समय पञ्चे-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

न्द्रियका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि मन अत्यन्त सूक्ष्म है। तो यह मन जिस जिस इन्द्रिय का सम्बन्ध बनाता जाता है उस उस इन्द्रियसे ज्ञान चलता है। इसी कारण एक साथ ज्ञान नहीं होते, क्रमसे ज्ञान होते हैं। यह शङ्काकारकी बात कही जा रही है। सुननेमें बड़ा अच्छा लग रहा होगा कि वह ठीक ही कह रहे हैं। लगता भी ऐसा है कि यह मन जिस जिस इन्द्रियसे सम्बन्ध करता है उस उस इन्द्रियका ज्ञान होता रहता है। भाई ! जब यथार्थ जानकारी नहीं होती है तब ये सब बातें जो भूलमें चली आयी हैं वे तो सही लगेंगी ही। देखिये ! जिनके मन नहीं है क्या उनके इन्द्रियका ज्ञान नहीं होता। एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जब यह बात तथ्यकी कह रहे हैं कि मनका इन्द्रियसे सम्बन्ध हो तब जानकारी बनती है।

जाननेके ६ निमित्त कारण षट् इन्द्रियां—दूसरी बात देखिये। जैसे यह इन्द्रिय एक स्वतंत्र कारण है अर्थात् एक दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक इन्द्रिय खुदमें खुद अपना वजूद रखता है ऐसे ही मनभी है। जाननेके साधन ६ हैं—५ इन्द्रियां और छठा मन। अब मन इन्द्रियसे दोस्ती करें य ने सहायता दे, उनसे सम्बन्ध करे तब जानकारी बने यह बात ठीक नहीं बैठती। हाँ यह अवश्य है कि ज्ञानके चक्र इतने शीघ्र शीघ्र होते हैं कि इन्द्रियका भी काम चलता रहे और मनका भी काम चलता रहे। तो यह शङ्का रखना शङ्काकारको असंगत है कि एक साथ ज्ञान भी नहीं होता, इससे करकी सिद्धि होती है। यह तो एक प्रकृति हैं। कभी चीजोंका क्रमसे ज्ञान होता कभी चीजोंका एक साथ ज्ञान होता और मोटे दृष्टान्तमें रख लीजिए वही बेसनकी तेलकी भुनी कड़ी पपड़ियां बड़ीसी, माड़वारी टाइपकी उसे कोई खाता जाय तो सभी इन्द्रियोंका ज्ञान हो रहा है। चुर्रु-चुर्रुकी आवाज भी सुन पड़ती कड़ी है सो स्पर्श भी हो रहा, गंध भी मिल रही, रसनासे स्वाद भी ले रहा यों पांचों बातें एक साथ हो रही है, तो एक साथ भी तो ज्ञान हुआ करता है और भी सुनिये। आप एक घोड़ेका चिन्तन कर रहे हैं– फलानेका घोड़ा बड़ा पुष्ट है, रङ्ग भी खैरिया है, चाल बड़ी अच्छी है, वह घोड़ा हमें कैसे तिले यों विचार कर रहे हैं और इसी बीच सामने से निकल जाय कोई गाय तो धुन तो लगी है घोड़ेके विचारमें पर उस बीच भी गाय की भी कुछ जानकारी बनी कि नहीं। तो क्रमसे तो नहीं रही अब बात जब जो आया आ गया ज्ञानमें। कहोगे यह भी भ्रम है। पपड़िया खाया, पांचों इन्द्रियसे जाना वहां भी क्रम है। घोड़ेका विचार कर रहे थे, सामनेसे गाय निकली और ज्ञान हो गया वहां भी भ्रम है तो इससे तो प्रत्यक्ष विरोध है। सामनेकी तो बात है खाकर देख लो, बाजारमें बहुतसी बेसनकी पपड़ियां बनती हैं ना, जाकर उठाकर खाकर देख लो पांचों ज्ञान एक साथ हो रहे हैं या नहीं और फिर जो एकान्त बनाया, प्रत्येक ज्ञान क्रमसे ही होते हैं, एक साथ कुछ होते नहीं, एक साथ भी कुछ ज्ञान हुआ करता या नहीं, यह पूछा जा रहा है।

छद्मस्थके क्रमसे ही ज्ञान माननेमें एकान्त दोषकी उत्पत्ति—यदि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कहो कि एक साथ तो कुछ ज्ञानमें आता ही नहीं तो लो अब कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते। यह बतावो यह क्या चीज रखी है ? यह चौकी रखी है। चौकी किस ज्ञानमें आ जायगी ? चौकीमें तो अनन्त परमाणु हैं और एक एक परमाणुका क्रम क्रमसे ज्ञान होगा, अथवा परमाणु तुम्हें नहीं दिखता तो इस चौकीमें देखने योग्य जितने छोटे छोटे टुकड़े हैं चिपके हुए उनके क्रमसे ज्ञान करियेगा। जब एक टुकड़ेका ज्ञान किया चौकीका नहीं किया तो तुम चौकीको ज्ञान कैसे लोगे ? जो लोग एक साथ ज्ञान होना नहीं मानते उनको दोष दिया जा रहा है। जैन दर्शनमें छद्मस्थ अवस्थामें भी कोई चीजका एक साथ भी ज्ञान होता और कोई चीजका क्रम क्रमसे भी ज्ञान होता। पर जो क्रमसे ही ज्ञान होता। है। एक साथ ज्ञान होता ही नहीं ऐसा एकान्त करते हैं उनसे पूछा जा रहा है कि फिर तुम इन चीजोंको जान कैसे सके ? ये तो सब अवयवी हैं। अवयव मायने छोटे छोटे हिस्से। और, उन हिस्सोंका यह पिण्ड है तो तुमने इन सब चीजोंको एक साथ कैसे जान लिया ? चौकीमें १०–२० करोड़ टुकड़ा है, उनका समूह यह चौकी है। तो तुम टुकड़ोंके एक एकके जाननेमें लगे रहो, क्रमसे। एक साथ ज्ञान होना मानते ही नहीं तो फिर कुछ जान ही नहीं सकते। और, यदि यह बात रख रहे हो तुम कि आत्माका तो होता है मनसे सम्बन्ध जब कुछ ज्ञानमें आता। इतनी जब कवायत यहां हो जाय तब जाकर कुछ समझमें आता। तो यह बतलावो कि जैसे इस सूक्ष्म मनका इन्द्रियमेंसे किसी भी एक इन्द्रियका सम्बन्ध हुआ तो उस ही सम्बन्धके समयमें सुखसे भी सम्बन्ध हुआ क्योंकि आत्मामें सुख परिणमन भी है। उसमें भी मन लगा तो एकेन्द्रियमें सन्निकर्ष के सम्बन्धमें जैसे रूप आदिकका ज्ञान हो रहा है।

ज्ञानके क्षयोपशम द्वारा वस्तुज्ञ नकी सिद्धि– इसी प्रकार मानसिक सुख आदिकका ज्ञान क्यों नहीं हो जाता क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्ध वहाँ पाया जा रहा है ? तो इसका उत्तर यह देंगे कि उस प्रकारका भाग्य नहीं अदृष्ट नहीं इस कारणसे सुख आदिकका ज्ञान नहीं हो रहा है तत्काल तब फिर सारी बात अदृष्टसे मान लो। एक साथ जो ज्ञान नहीं हो रहा है वस्तुवोंका वह भी अदृष्टका फल है। एक ज्ञानावरण कर्म लगा है उसका उदय है इस कारण एक साथ ज्ञान नहीं हो पाते ? कौनसा हो पाता है जिसका कि आवरण हट गया। तो उससे अदृष्टका ही अनुमान बनेगा मनका नहीं। मनकी सिद्धि हम नहीं कर सकते। मन है उसका भाव नहीं कह रहे. किन्तु जो लोग ज्ञानको परोक्ष मानते हैं, हम जिस ज्ञानसे पदार्थको जानते हैं उस ज्ञानसे जानते ही नहीं हैं ऐसा माननेवालोंसे कहा जा रहा है कि तुम इस ज्ञानकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये जो मनका हेतु देते हो तो तुम मनको सिद्ध ही नहीं कर सकते। और फिर मन होनेके कारण एक साथ ज्ञान नहीं होता, एक साथ ज्ञान न होनेसे मनका सद्भाव सिद्ध होता है। ऐसा कहनेमें अन्योन्याश्रय दोष हो गया। जैसे जब कभी कोई दानकी बात कही जाय, बेटासे कहें कि भाई अमुक काममें १००) दान कर

http://sahjanandvarnishastra.org/

दीजिए तो बेटा कहेगा कि अजी हम कुछ नहीं जानते जो पिताजी कह देंगे वह हमें स्वीकार है। उसके पिताजीसे कहा कि भाई अमुक काममें १००) लगा दो, तो वह कहेगा अजी बेटा जाने, अब हमारा क्या है। जो कुछ बेटा कह देगा वह हमें स्वीकार है। तो यही हो गया अन्योन्याश्रय। जैसे एक ताला होता है जो बिना चाभीका लग जाता है। ताली तो धर दें ट्रंकमें और बादमें लगा दें ताला तो क्या स्थिति बन गई कि ताला खुले तो चाभी निकले और चाभी निकले तो ताला खुले। यह एक प्रासंगिक बात कही जा रही है ऐसे ही तुमने यहाँ झगड़ा बना लिया। एक साथ ज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाय तो मनकी सत्ता सिद्ध हो तब यह कहा जा सकता है कि एक साथ ज्ञान नहीं है।

सच्ची बात मुकरनेमें अनेक असत्योंका सहारा— देखिये एक जरासी सीधीसी बात रखी जा रही है। एक सच्ची बातको छिपा लेनेसे कितना झूठ बोलना पड़ता है। और फिर इतना झूठ बोलनेसे पूरा भी पार नहीं पड़ता तो अपनेमें निरख लीजिये कि सबको अपनी अपनी जानकारीका पता है कि नहीं। सब ही अपनेमें कुछ न कुछ जान रहे हैं समझ रहे हैं और बात जल्दी समझमें न आये तो यह बात देख लो जिसके चित्तमें कपट है, छल है किसी बातका कोई छलका बात रख रहा है तो वह जान रहा है कि नहीं खुद कि हम यह कह रहे हैं। हम यह कपट रच रहे हैं। वह तो जरूर जानेगा दूसरे जानें या न जानें वह दूसरोंकी बात है। तो खुदका ज्ञान खुदकी समझमें न रहे ऐसा कोई मान ले तो उसे अनेक बातें ढूंढ़नी पड़ेगी अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिये। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मान मेरा साधन है। ज्ञानकी हममें स्पष्टता है, मैं जानता हूं। अब देखिये ज्ञान कहीं रूप, रस, गंध, स्पर्श वाला तो नहीं है जो हम इन्द्रियसे इस तरहसे जान लें जैसे हम पदार्थके जानते हैं, नहीं हैं रूप रस आदिक ज्ञानमें फिर भी चूंकि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है इसलिये अपने ज्ञानका उसे पहिले पता रहता है।

संसारी आत्माके साथ द्रव्यकर्म भावकर्मकी सिद्धि— देखिये आत्माके साथ द्रव्यकर्मका और भावकर्मका सम्बन्ध है। ज्ञानावरण आदिक ८ कर्म ये भी जीवके साथ लगे हैं और रागद्वेष मोह विकल्प विचार ये भी जीवके साथ लगे हैं। और, रागद्वेष से कर्म मोटे हैं, रागद्वेष उनसे पतले हैं, अर्थात् कर्म तो हैं मूर्तिक और रागद्वेष हैं अमूर्तिक। कर्मोंमें तो रूप, रस, गंध स्पर्श पाये जाते हैं। मोह रागद्वेष भावमें काला, पीला, नीला आदि कोई रङ्ग नहीं होते हैं पर कर्मोंमें रङ्ग हैं। कर्म हैं मूर्तिक जो मूर्तिक होता है उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाते हैं। तो कर्म रागद्वेष मोह आदि विकारोंकी अपेक्षा अधिक मोटे हैं लेकिन जितना स्पष्ट बोध रागद्वेष मोहका विकल्प विचारका होता है उतना स्पष्ट बोध कर्मका नहीं होता है। कर्मको कौन जानता है। और, रागद्वेषका सब अनुभव करते हैं। तो ऐसा क्यों हो गया। जब

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आत्माके क्षेत्रमें कर्म भी सब मौजूद हैं फिर कर्मका तो हम ज्ञान नहीं कर पाते और रागद्वेष आदिकका हम ज्ञान कर लेते इसका कारण यह है कि रागद्वेष तो हैं आत्मा के परिणमन और कर्म हैं पुद्गलके परिणमन। तो जो बात हमपर खुदपर बीतती है उसका भी पता न पड़े यह कैसे हुआ।

ज्ञानके स्पष्ट माने बिना परोक्ष ज्ञानकी अनुपलब्धि यों ही समझिये कि हम जो कुछ ज्ञान करते हैं वह ज्ञान तो हमारा ही अंश है ना, और उसका ही हमें भान न हो यह कैसे हो सकता है। आत्मा है, ज्ञानस्वरूप है और वह अपने आपको सबको अपना ज्ञान, अपनी अपनी जानकारी, चाहे किसीका सम्यग्ज्ञान हो रहा हो स्पष्ट रहता है। इससे ज्ञानको सीधा मान लो, परोक्ष मत मानो। और, ज्ञानको परोक्ष मानकर ज्ञानकी सिद्धि करनेके लिये, ज्ञानका अनुमान बनानेके लिये मनका साधन ढूँढ़ना, और साधनोंकी सिद्धि करना यह श्रम मत करो। ज्ञानको स्पष्ट माने बिना परोक्ष माननेसे एक ही ज्ञानकी सिद्धि नहीं कर सकते। क्योंकि, उस ज्ञान का अनुमान कराने वाला कोई साधन नहीं दे सकते। अथवा कोई साधन भी बन जाय तो वह ज्ञानको अत्यन्त अप्रत्यक्ष माननेपर उसका भान ही नहीं हो सकता, ऐसा माननेपर मनका ज्ञानसे सम्बन्ध होता है यह सिद्ध नहीं कर सकते। और, जब तक किसी भी चिन्हका सम्बन्ध सिद्ध नहीं कर सकते तो विज्ञानकी सिद्धि नहीं बन सकती जिसका हम सम्बन्ध न जानते हों तो दूसरेका ज्ञान कैसे कर सकते, इस कारण इस का एकाग्र छोड़ दो कि ज्ञान परोक्ष ही रहा करता है।

ज्ञानके स्वपर व्यासायात्मककी सिद्धि— ज्ञानको स्वव्यवसायात्मक और पर व्यवसायात्मक मान लो, ज्ञान खुदका भी निर्णय रखता है क्योंकि वह पदार्थकी जानकारीका कारण है। जैसे दीपक खुद भी प्रकाशमान है क्योंकि वह पर पदार्थके प्रकाश करनेका कारण है ऐसा मान लो। जैसे आत्माको अप्रत्यक्ष मानते हैं ऐसे ही ज्ञानको भी प्रत्यक्ष मान लो। देखिये मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ आदिक रूपसे मैं को तो मानते हैं ये लोग कि हमारा भान रहता है क्योंकि मैं का ही भान न रहे तो सुख दुःख कैसे भोगे जायें लेकिन जिस ज्ञानके द्वारा मैं सुखी हूँ मैं दुःखी हूँ यह जानकारी बन रही है अथवा पर पदार्थोंका ज्ञान बन रहा है उस ज्ञानको ही ये स्पष्ट नहीं मानते प्रत्यक्ष नहीं मानते। अरे भाई जैसे आत्मा प्रत्यक्ष है वैसे ही आत्माका यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष है और आत्मा भी प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हो हुआ। ज्ञानका भान न हो तो लोक में पुरुषोंके प्रति कोई व्यवस्था ही नहीं बन सकती। यदि कहो कि हम नेत्रके द्वारा देखते हैं पर नेत्र खुदका ज्ञान नहीं करता। ऐसे ही हम ज्ञानके द्वारा जानते हैं और वह ज्ञान खुदका ज्ञान नहीं करता, यह बात किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारकी युक्त नहीं है क्योंकि नेत्रसे हम जानते नहीं है, नेत्र जाननहार नहीं है, जाननहार तो सर्वत्र यह आत्मा है, ज्ञान है, वह तो पदार्थकी जानकारीमें एक बाह्य साधन है अतएव उप-

http://sahjanandvarnishastra.org/

चारसे यह कह दिया जाता है कि हम आँखसे जानते हैं, कानसे जानते हैं पर परमार्थसे ये आँख कान आदिक आत्मामें और प्रमाणमें केवल कारण मात्र होता है। यह ज्ञान सुनता नहीं है और न यह जानता है।

ज्ञानशक्तिसे ही विश्वको जाननेमें समर्थ—आत्मा ज्ञानमय है और अपनी ज्ञानशक्तिसे समस्त विश्वको जानता है। इस आत्माका कार्य केवल जानन जानन बनाये रहना है, और यह कुछ नहीं करता। यह तो ज्ञानस्वरूप है, अमूर्त है किसी पदार्थसे टक्कर नहीं ले सकता। किसी पदार्थको अपनेमें रख नहीं सकता। यह तो केवल जानन जाननका ही कार्य किया करता है। तब इसके अलावा जो लोग और कुछ मानते हैं मैं करता हूँ, मैं भोगता हूँ, मैंने इतना कार्य किया यह तो मिथ्यात्व और अज्ञानका फल है। तो कारणभूत जो ज्ञान है वह ज्ञान सबके भानमें है ऐसा मान लेना चाहिए, तब एक सिद्धान्त ऐसा भी है कि जो न ज्ञानको स्पष्ट मानता है और न आत्माको स्पष्ट मानता है। कहते हैं कि उनका भी सिद्धान्त इस कथनसे निराकृत हो जाता है, उनका कथन यह है कि आत्मा भी परोक्ष है क्योंकि आत्मा कर्मरूपसे प्रतीयमान नहीं है। मैं जानता हूं ऐसा कोई नहीं कहता। मैं इसको जानता हूं ऐसा कोई नहीं कहता, मैं जानता हूं यों कहा करते हैं, इस कारण आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। करण ज्ञानकी तरह है ऐसा कहने वाले दार्शनिक भी निराकृत हो जाते हैं क्योंकि जो जानकारी है वह भी तो कर्म रूपसे नहीं जाना जाता फिर भी सबमें प्रत्यक्ष है, ऐसे ही आत्मा भी और यह ज्ञान भी सब प्रत्यक्ष रहता है।

ज्ञानका वैशिष्टय अपने अपनेका सबको पता है मैं भीतरमें कैसा हूं, स्वच्छ हूं। या कपटी हूं या संसारका रुचिया हूं या धर्मका अनुरागी हूं, चाहे करण हो चाहे कर्ता हो चाहे क्रिया हो, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। ज्ञानस्वरूपके जाननेसे, आत्मासे क्या सर्वथा भेद है ? भेद तो है नहीं, क्योंकि उससे विशेष बातका दोष लगेगा, और यदि अभेद है तो कुछ भी एक बात प्रत्यक्ष मानले तो सारी बात प्रत्यक्ष माननी होगी। क्या जानकारी प्रत्यक्ष है। खुद खुदमें बना हुआ है। खुदके घरमें रहता हुआ यह सारी व्यवस्था बनाता रहता है। आत्मज्ञानका ऐसा महत्त्व है कि अपनी ही ज्ञान परिणतिसे जगतमें सर्व कुछ अपनी व्यवस्था बनाया करता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्माको मान लें कि यह मैं हूं और स्पष्ट समझ लें और यह निर्णय कर लें कि यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञान ज्योति स्वरूप मात्र हूं। यों ज्ञान स्वरूपके निकट अपने उपयोगको रमानेसे कर्म कलङ्क कटेंगे, सच्ची प्रसन्नता मिलेगी और भविष्य भी आनन्दमय व्यतीत होगा।

ज्ञान स्वभावमें ही कर्ता कर्म करण क्रियाके मर्मबोधकी उपलब्धि हम आप सब ज्ञानस्वभावी हैं और ज्ञानसे प्रतिक्षण जानते रहते हैं, उस जाननेकी शैली इस प्रकार हुआ करती है। जिससे जो जानने वाला है वह भानमें रहे। जिस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्योतिके द्वारा जाना है वह भानमें रहे, जैसा जाना है वह भी भानमें रहे और जानने की क्रिया भी भानमें रहे इस शैलीसे जानना हुआ करता है। चाहे कोई इसको कलात्मक ढंगसे, शब्दात्मक पद्धतिसे न भी रख सके परन्तु जिस क्रियाका, जिस परिणति का जिस प्रकार स्वभाव है वह उस प्रकारसे ही हुआ करता है। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि जिसको हमने जाना है कि यह चौकी है तो उसका रूपक यो बनता है कि मैं ज्ञानसे चौकीको जानता हूँ ज्ञानसे कहो अथवा अपने आपसे कहो। मैं अपने आपसे चौकीको जानता हूँ। जाननेकी पद्धति इस प्रकार हुआ करती है। और इस पद्धतिसे निरख लीजिए कि मैं जानता हूँ। मैं का भी प्रत्यक्ष साथ साथ है ना और मैं अपने आपसे ही जानता हूँ। मैं अपने आपसे अपने ज्ञानके द्वारा ही जानता हूँ, यह भी प्रतीति रहती है ना, और मैं चौकीको जानता हूँ, चौकीकी प्रतीति, चौकीका भान तो सब लोग झट मान लेंगे हाँ चौकी तो स्पष्ट नजर आ रही है। जाननेकी जो क्रिया है कर रहा हूँ। जान रहा हूँ, इसका भी भान है कि नहीं। इनमेंसे इन चार मर्मोंका पता रहता है। चाहे विश्लेषणके ढंगसे न बता सके और अपनेमें प्रयोग न कर सके, किन्तु जो भी जीव यहाँ जानते हैं वे इस प्रकारका रूपक लिए हुए ही जानते हैं। तब हममें सब बात हमारे लिये हमारी बाम प्रत्यक्ष है, स्पष्ट है इस सिद्धान्तके बिरोधमें शङ्काकार यह कह रहा है कि भाई यह तो शब्द गढ़ लिया।

स्वसंवेदन प्रत्यक्ष बिना पदार्थज्ञान वास्तविकतासे रीता — केवल एक शाब्दिक रचना है। यह कि मैं अपने द्वारा चौकीको जानता हूँ। बात तो वहाँ इतनी है कि चौकी स्पष्ट हो रही है। अब वहाँ ज्ञान भी स्पष्ट है। मैं भी स्पष्ट हूँ। यह तो सब केवल शब्दके बलपर चल रहा है। मैं का और ज्ञानका कोई भान नहीं है। चीज दिख रही है बस। यह अनुभव प्रभाव वाला नहीं है अर्थात् स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष नहीं है। यदि शाब्दिक घटनाको प्रत्यक्षका अविनाभावी मान लिया जाय कि शब्द द्वारसे जो कुछ ज्ञान बनता है उसका स्पष्ट प्रतिभास होता है तो लो ज्ञान की तो हम अनेक गणना बना दें। देखो हमारी अंगुलीके ऊपर १०० हाथी खड़े है। शब्द रचना ही तो बनाया और इस कथनमें कोई त्रुटि तो नहीं है व्याकरणकी शब्दात्मक बात है कह दिया। तो शब्दात्मक गणनासे केवल वाक्य प्रयोगसे यदि तथ्य बन जाय, अनुभव आ जाय, स्वसम्वेदन हो जाय, अनुभव आ जाय तो फिर अंगुली तो अब तुरन्त टूट ही जायगी। १०० हाथीका बोझ क्या यह अंगुली साध लेगी? तो ये सब केवल शब्दकी बातें हैं, इसी प्रकार जो तुम ज्ञानकी यह रचना बनाते हो घटना करते हो, जैसे घड़ा घड़ा जाता है ऐसे ही तुमने ज्ञानको भी घड़ दिया, तो इसी प्रकार शब्दके घड़नेका यदि अनुभव बन जाय तब तो फिर एक यह वाक्य बोले कि अंगुलीके अग्रभागपर१०० हाथी बैठे हैं तो फिर बैठे ही मिलें,फिर वही बात मिले। इससे यह तो कहा जा सकता है कि जिस चीजमें हमने जाना घड़ेको वह तो स्पष्ट होता है, बाकी न जानने वाला स्पष्ट है न वह ज्ञान स्पष्ट है, चीज स्पष्ट

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। देखिये यह जानने वाले शङ्काकारके अभिप्रायसे आज कलकी चली बैट्री हैं। जैसे उन बैटरियोंसे चीज तो देख लें, न आदमी दिखेगा न बैट्री दिखेगी, सिर्फ चीज चीजका भान होता है। यद्यपि वहां भी जो दीपक है वह स्वपरप्रकाशक है। वह टार्चका ढाँचा है उसका नाम दीपक नहीं है, ज्योतिका नाम दीपक है। लेकिन मोटे रूपमें यों समझ लीजिये कि शङ्काकार यह कह रहा कि जैसे न तो बैट्रीका पता न बैट्री लेने वालेका पता, चीजका पता रहता है तो ऐसे ही ज्ञान द्वारा चीजका पता रहता है, न जानने वालेका पता और न जिसके द्वारा जाना उसका पता। यों न कोई आत्मा है न कोई ज्ञान है और केवल पदार्थ स्पष्ट होता रहता है इतनी बातको मना नहीं कर सकते। शङ्काकार यहां यह शङ्का कर रहा है। इसके उत्तरमें आचार्यदेव यहाँ १०वां सूत्र कह रहे हैं। शब्द घड़नेसे ज्ञानकी बात नहीं बतायी जा रही ज्ञानमें क्या आया और क्या शैली बनी उसको बतानेके लिए शब्द घड़े गए हैं।

शब्दके न बोले जानेपर भी आत्मानुभवकी उपलब्धि— शब्दके घड़नेके माध्यमसे ज्ञान नहीं बनाया गया क्योंकि शब्द न बोले तो भी आत्माका अनुभव होता है। जैसे आँखें खोलकर जो देखा वह प्रतिभासमें आ गया। अब जरा जरा सी देरमें एक सेकेण्डके हजारवें हिस्से बराबर समयमें अनेक पदार्थ प्रतिभासमें आते रहते हैं। क्या हम सब जगह ये शब्द घड़ते रहते हैं ? मैं इसको जानता हूँ, मैं इसको अपने द्वारा जानता हूँ तो जिस पदार्थका प्रतिभास होता है शब्द नहीं घड़ते। शब्दके उच्चारणके बिना भी घड़ शब्द न बोले फिर भी घड़का प्रतिभास तो होता रहता है। जो बोलेगा उस चीजका नाम नहीं जानता और चीज सामने दिख जाय तो नाम न जानने से और शब्द घड़ते नहीं, पर ज्ञानमें आयेंगे कि नहीं ? आयेंगे। तो जो घड़े शब्दका उच्चारण किए बिना भी घड़ेके स्वरूपका प्रतिभास होता है और इसी प्रकार घड़े शब्दके उच्चारणके बिना घड़े स्वरूपका होने वाला प्रतिभास केवल शब्दात्मक प्रतिभास नहीं है किन्तु यथार्थ प्रतिभास होता है इसी प्रकार आत्माका ज्ञानका शब्द उच्चारण न भी करें तो भी आत्मा आदिकके स्वरूपका प्रतिभास होता है। इस कारण आत्मा का प्रतिभास होना, ज्ञानका प्रतिभास होना केवल एक शब्द-रचनाकी बात नहीं है, किन्तु होता है ऐसा। यह अपने आत्मारामके उपवनमें विहारकी बात कही जा रही है। यह जानने वाला आत्मा अपने आपके प्रदेशोंमें अवस्थित रहता हुआ क्या करता रहता है और उस आत्मप्रदेशमें कितना उजाला प्रत्येक जीवके निरन्तर बना ही रहता है उसकी बात यहाँ कही जा रही है।

अपना ज्ञान प्राप्त करनेके लिये स्वमें ही सामर्थ्य— जैसे भूल होनेके कारण घरमें गड़े हुए धनका पता नहीं रहता है ऐसे ही इस आत्मारामके अन्तरङ्ग खजानेका पता भूल होनेसे स्पष्ट नहीं मालूम हो रहा है। घरमें गड़े हुए धनको स्पष्ट करनेके लिए कुदाली आदिक भिन्न साधनोंकी जरूरत पड़ती है लेकिन इस आत्मगृहमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गड़े हुए धनको स्पष्ट करनेके लिए किसी भी बाह्य साधनकी जरूरत नहीं है। अपने ही ज्ञानसे अपने आपमें वह प लिया जाता है। हम जो कुछ भी जानते हैं उसका ज्ञान तत्काल बनता है, जब ज्ञान बनता है तब उसको बतानेके लिये फिर शब्दरचना हुई। जैसे मिश्री खाया, मीठी लगी। अब कोई उस मिश्रीके बारेमें वर्णन करने लगे, यह तो बहुत मधुर है,तो क्या ऐसा वर्णन करनेसे इसकी मधुरता बतायी जा रही है? नहीं। यह स्वयं मधुर है और उसको बतानेका प्रयत्न यह शब्द बोलकर किया जा रहा है। शब्द बोलना भी निराधार नहीं हुआ करता। यदि शब्द गणना भी की है तो बोलकर अटपट शब्दोंसे नहीं की है। जो भी शब्दोंसे कहा गया वह वाक्यका आधार है। तो शब्दोंकी प्रतीति भी निराश्रय नहीं होती है। किसी वस्तुके स्वरूपका भान होता है तो उसके ही विषयको शब्दों द्वारा बोला जा रहा है। तो शाब्दिक जो जानकारी है वह निराश्रय नहीं हुआ करती है उसका वाच्य भाव। जिसके सम्बन्धमें शब्द निकले, व्यवहार किया गया—यह चौकी है, यह घड़ी है तो ये शब्द निराश्रय नहीं हुए। तो शब्दका वाच्यभूत पदार्थ है, उसको बतानेके लिए शब्द द्वारा व्यवहार किया है।

वाक्यके अभावमें वाचककी अनुपलब्धि - यदि शाब्दिक प्रतिभास मात्र होनेसे वह सब निराश्रय ज्ञान बन जाय अर्थात् उसका वाच्य तथ्यभूत कोई पदार्थ न माना जाय तो लो मैं सुखी हूँ ऐसा शाब्दिक ज्ञान हुआ तो वह भी निराश्रय बन जायगा। तो सुखका आधारभूत फिर आत्मा ही न रहेगा। तो जैसे सुखी हूँ इस शाब्दिक ज्ञानमें एक विशिष्ट कोई आत्मा है ना, उसकी सिद्धि है ना तो शब्द बोला गया तो उसका कोई पदार्थ ऐसा है जिसके बारेमें शब्द बोला है इसी प्रकार यदि यह बोला गया कि मैं जानता हूँ तो शब्द प्रत्पत्तिका भी आश्रय है आत्मामें हुआ ना कुछ, तब ये शब्द बोले गए, न हो तो शब्द व्यवहार कौन करेगा? कोई भी वस्तु ऐसा नहीं है कि जो हो तो कुछ नहीं और उसका नाम हो। पदार्थ तो कुछ है ही नहीं। और, नाम रख दिया जाय ऐसा हो सकता है क्या? किसी असत का नाम नहीं हुआ करता। जगतमें जितने भी शब्द हैं उन सबका वाच्यभूत अर्थ अवश्य है। कोई कहे अच्छा लो हम कहते हैं गधेका सींग, धुवेंका कोंपल, आकाशका फूल खरगोशके सींग। हम बोलते तो चले जा रहे हैं। हमें जरा चलकर दिखा दो ये कहाँ हैं। अरे इस प्रकार मनमाने ढङ्गसे तो सम्बन्धकी बात नहीं है, पर आकाश तो कुछ होता है और सींग भी होते हैं। पदार्थ न हो तो उसका नाम नहीं रखा जा सकता है। जितने नाम हैं उन सबका वाच्यभूत पदार्थ अवश्य है तो जब यह शब्द रचना हुई कि मैं जानता हूँ यह जानता है तो मैं और यह का वाच्यभूत प्रमाता आत्मा ज्ञाता कोई है उसका अपलाप नहीं कर सकते।

प्रमाणस्वरूपके निर्णय बिना वस्तुतत्त्वकी अज्ञेयता—इस परिच्छेदमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रमाणका स्वरूप कहा जा रहा है। यह दार्शनिक ग्रन्थ है, युक्तियोंसे जानने के स्वरूप को इस ग्रन्थमें बताया जायगा और यह ग्रन्थ तत्त्वके स्वरूपके बतानेके उपायको बतावेगा। लेकिन इस ढङ्गसे आचार्यदेवने रचना की है कि वस्तुके स्वरूपको सिद्ध करने वाले उपायका विवरण करते हुए भी वस्तुका स्वरूप बीच बीच बनाते जायेंगे। तो युक्तियोंसे तत्त्व निर्णय करने वाला यह ग्रन्थ है। उसमें सबसे पहिले दृढ़ प्रमाणकी जानकारी होना चाहिये जिसके बलसे यह कहा जा सके कि यह बात तो युक्त है यह बात अयुक्त है। यों तो प्रमाणके स्वरूपका निर्णय किए बिना कितनी ही बिडम्बनाएँ बन जाती हैं। निर्णय हो तो मूर्खता नहीं ठहर सकती। एक कोई पुरुष कहीं बाहर जा रहा था रिश्तेदारीमें। रास्तेमें थक गया तो उसे एक चरता हुआ घोड़ा मिला उसको पकड़ लिया और उसपर सवार हो गया। सवार इस तरह हुआ कि घोड़ेकी पूँछकी तरफको मुख किया, मुखकी तरफ पीठ और अपनी गठरी अपने सिरपर रख ली। ऐसे बैठकर कोई बाजारमेंसे निकले तो बहुतसे लोग उसे देखकर खुश हो जायेंगे जब किसी गांवसे वह पुरुष निकला तो उस गाँवके लोग सोचते हैं कि यह पुरुष बड़ा बुद्धिमान दिखता है। देखो, आगेसे कोई लड़े तो यह घोड़ा लड़ेगा, पीछेसे कोई लड़े तो यह मनुष्य लड़ेगा और लड़ते लड़ते भग जाय तो शिरकी गठरी तो सुरक्षित रहेगी। सो उसे बुद्धिमान समझकर उस गाँवके लोगोंने उसे अपने गाँवका मुखिया (जज) बना लिया। गाँवके सभी झगड़ोंका वह निपटारा करे।

समझकी विपरीततासे दुःखकी ही उपलब्धि एक बार कोई आदमी किसी पेड़पर चढ़ गए। डरके मारे वह उतर न सके तो उसी पेड़पर एक डालपर बैठकर वह रोने लगा। गाँवके लोगोंने झट मुखिया साहबको बुलाया और कहा कि इसे किस तरह उतारें? मुखिया साहब आये और कहा झट एक मोटी रस्सी लावो। आ गयी रस्सी। ऊपर फेंककर उस डालीपर बैठे हुए पुरुषसे कहा कि इसे तुम अपनी कमरमें कसकर बाँध लो! उसने बाँध लिया। अब तीन चार आदमियोंसे कहा कि तुम लोग इसे खींचना जब हम एक दो और तीन कहें! जब एक दो और तीन कहा तो झट उसे खींच लिया। करीब २५ हाथकी दूरपर वह था। झट नीचे आ गिरा। उसके चोट भी आ गयी, हड्डियाँ भी कुछ टूट गयीं। कुछ लोग तो खुश हुए और कुछ लोग उस मुखियापर उसकी बेवकूफीपर नाराज हुए। तो मुखियाने कहा अजी यह तो २५ ही हाथकी दूरीपर था, हमने तो ५०-५० हाथकी दूरीसे कुवेमेंसे कई लोगोंको खींच लिया। तो यह प्रमाण तो नहीं बैंठा! जहाँ उपायका सही निर्णय नहीं है वहाँ ऐसी ही विडम्बना हो जाती है।

स्व अपूर्व अर्थका निर्णायक ज्ञानके प्रमाणता—दर्शनशास्त्रके क्षेत्रमें जहाँ वस्तुके स्वरूपका निर्णय किया जायगा वहाँ यह जानना तो प्रथम ही आवश्यक है कि प्रमाण कहते किसे हैं? जो लक्षण न मिले उसकी बातमें तो वहां दोष दे सके। यहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनैकान्तिक दोष आया। असिद्ध दोष जिसमें बता सके उस ही प्रमाणका स्वरूप कहा जा रहा है। क्या कहा? जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये ऐसा ज्ञान प्रमाण होता है। अभी प्रमाणका ही स्वरूप कहा जा रहा था, उस ही स्वरूपमें अब तक पक्ष प्रतिपक्ष प्रश्नोत्तर शंका समाधानमें चलते चले जा रहे हैं। इस प्रसंगमें इस बातपर चर्चा है कि ज्ञान स्वका निश्चय करने वाला नहीं होता। यह शंका रखी जा रही है। जो ज्ञान अपने आपका निश्चय न रखे उस ज्ञानके द्वारा पदार्थका निश्चय नहीं किया जा सकता। चाहे मिथ्या दृष्टि जीव हो और चाहे सम्यग्दृष्टि, जाननेकी शैली सबमें एक प्रकारकी है। मिथ्यादृष्टि भी जो कुछ जान रहा है उसे भी वही समझ रहा है। कोई रस्सीको सांप समझ रहा है तो इसे सही समझ रहा है तो वह तो इसे सही समझ रहा है उसे कोई सुविधा नहीं रहती कि हमारा यह ज्ञान सही है या नहीं भी। जब भी अपने ज्ञानमें निर्णय होता है तो पदार्थके स्वरूपका सही निर्णय होता है।

ज्ञानके स्वव्यवसायत्वके अभावमें आपत्ति ज्ञान स्वव्यवसायी न हो तो वह परव्यवसायी नहीं हो सकता। इस प्रकरणमें सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शनकी बात नहीं कही जा रही, किन्तु ज्ञानका जो साधारण स्वरूप है इस ज्ञानकी बात कही जा रही है और इस स्वरूपसे सम्बन्ध सभी जीवोंका है। तो ज्ञान है स्व व्यवसायी। जैसे प्रदीप स्व प्रकाशक न हो तो पर प्रकाशक नहीं बन सकता। वह ज्योति जिस ज्योतिका निमित्त पाकर अन्य अनेक पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं तो वह ज्योति स्वयं अंध हो स्वयं स्वप्रकाशक न हो तो पर प्रकाशनका कारण नहीं बन सकता, इसी तरह यह ज्ञान स्व प्रकाशक न हो तो पर प्रकाशक नहीं होता। आत्मा और ज्ञानमें भेद नहीं है। आत्माको चाहें स्व व्यवसायी कह लो चाहे ज्ञानको स्वव्यवसायी कह लो पर विशेषात्मक ढंगसे कुछ अन्तर आता है इस कारण आत्माको स्व व्यवसायी न बता कर प्रमाणके स्वरूपमें ज्ञानको स्व व्यवसायी कहा है। इतने पर भी आत्मा भी इस ज्ञाताको प्रत्यक्ष रहता है। ज्ञान भी प्रत्यक्ष रहता है। यहाँ प्रत्यक्षका अर्थ स्वानुभवसे नहीं यह दर्शन शास्त्रका विषय है। यह निर्णयके क्षेत्रकी बात है। स्व प्रकाशकका अर्थ है जो ज्ञान किया जा रहा है वह ज्ञान अपने आपमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नहीं रख रहा। हम किसी चीजको जानें और ज्ञानमें संशय बनायें अथवा विपरीत जानें या कुछ निश्चयका उमङ्ग ही न हो ऐसे ज्ञानसे परपदार्थका निर्णय नहीं होता। इससे यह निर्णय करें कि स्वपर व्यवसायी ज्ञान ही वास्तविक प्रमाणभूत ज्ञान है।

वाच्यभूत आधारके माने बिना सुखकी उपलब्धि असम्भव—आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जब इस ज्ञानस्वरूपको आत्मा जानता है किसी पर पदार्थका तो उसको प्रत्यक्ष होता है और साम व्यवहारिक प्रत्यक्ष तो पदार्थका हो गया है। मैंने

http://sahjanandvarnishastra.org/

पदार्थको ज्ञानके द्वारा जाना, यह इस वेचैनीमें है । जिस पदार्थ को जाना उसका बोध हुआ, जिस ज्ञानके द्वारा जाना उसका भी बोध हुआ और जाननेका भी बोध हुआ । इस सम्बन्धमें शङ्काकारने यह आपत्ति की थी कि यह तो तुम केवल शब्दों शब्दोंसे बात कह रहे हो । जिस पदार्थको जाना उस पदार्थका तो भान हो जाता है पर उस ज्ञानका भान नहीं होता । इसपर यह सिद्धान्त रखा कि शब्द न बोलनेपर भी आत्माका अनुभवन होता है । जैसे हम लाखों करोड़ों पदार्थोंको एक सेकेण्डमें नजर डालते ही जान जाते हैं या हम सब पदार्थोंका नाम लेकर जानते हैं. उनका नाम न लेनेपर भी एक शब्दसे उसे न बोलनेपर भी । इसी प्रकार अपने आत्माका शब्द नाम न लेनेपर भी आत्माका बोध होता है, शब्द निराश्रय नहीं होते । शब्द बोले तो उस का कोई अर्थ है अर्थात् वाच्यभूत पदार्थ है । अन्यथा मैं सुखी हूँ यह प्रतिभास भी निराधार हो जायगा । किन्तु जो शब्द बोला है उस शब्दका कोई आश्रय ही नहीं, शब्दका वाच्यभूत कुछ आधार माने नहीं तो सुखी होनेका अनुभवन भी झूठा हो जायगा । अब शङ्काकार अपना पक्ष रख रहा है कि जैसे सुख दुख आदिकका सम्वेदन जिस ज्ञानके द्वारा सुखका अनुभवन किया वह ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, प्रत्यक्ष नहीं होता हैं तो सुख आदिक सम्वेदन अर्थात् सुख ज्ञानका प्रत्यक्ष न होनेपर भी जैसे सुखका प्रतिभास होना बन जाता है ।

दुःख सुखकी पहिचान-- इसी तरह पदार्थका जो ज्ञान किया सो पदार्थ भानमें न आनेपर भी पदार्थका प्रतिभास नहीं बन सकता है यह बात भी बिना विचारे सुन्दर लग रही है । विचार करनेपर यह बात ठीक नहीं बन सकती । अरे भाई, सुख आदिकका जो सम्वेदन हो रहा है वह आत्मासे भिन्न स्वभाव वाला नहीं है अथवा इस ज्ञानसे भिन्न कोई सुख नहीं । किन्तु एक आल्हादके रूपमें परिणति ज्ञान विशेष है उसीको ही सुख संज्ञा दी गई है । यहाँ एक यह बात भी विशेषरूपसे समझ लेना चाहिए कि आत्माको केवल ज्ञानस्वरूप देखे और यह निर्णय कर ले कि ज्ञानके सिवाय आत्मा और कुछ नहीं है जो प्रतिभास है, जानकारी है वही ज्ञान विलास है ज्ञान है सो आत्मा है । अब आत्मामें जो अन्य अन्य बातें मालूम पड़ती हैं । जैसे आत्मामें सुख हुआ, दुःख हुआ, चिन्ता हुई, शोक विचार हुआ ये सब क्या चीजें हैं ? वे ही ज्ञानके रूपान्तर हैं । चिन्तासे भी क्या होता ? ज्ञानोपयोग उस प्रकारका बर्तता रहता है कि जिसका फल चिन्ता है । चिन्ता भी ज्ञानके परिणमनके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । जो जो भी बातें आत्मामें प्रतीतिमें आयी, नजरमें आयीं उन सबका भी ज्ञानरूप निर्णय करलें । सुख क्या है ? ज्ञान एक आल्हादरूपमें परिणम गया बस वही सुख है । दुःख क्या है ? ज्ञानमें क्लेशरूप कल्पना बन गयी वही दुःख है ।

संयम क्या है ?--संयम भी ज्ञानका एक रूप है । इस तरहका ज्ञान केन्द्रित होना, नियंत्रणमें आना, ज्ञानको किसी अन्य विषयमें न उलझा सकें इसीका नाम तो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

संयम है तपश्चरण क्या ? दया क्या ? वे सब ज्ञानके रूपान्तर हैं। दया भी क्या है ? किसी मनुष्यका क्लेश देखा, देखा मायने जानना।

व्यवहारनयसे इन्द्रियाँके पदार्थका ज्ञातृत्व— जैसे लोग कहते हैं कि हमने आँखों देखा तो देखा शब्द गलत है सिद्धान्तसे। यों कहना चाहिए कि आँखोंसे जाना। कानोंसे सुना। अरे सुननेके मायने क्या हैं ? कानोंसे जाननेकी जो विधि है, जो परिणमन है उसीका नाम सुनना रख लिया। हम यह जल्दी समझ जायें कि हमने यह काम कानोंसे किया। इसलिए ५ नाम अलगसे रख लिये। सुनना, देखना, सूँघना, स्वादना और छूना। ये पाँचों बातें कुछ अलग नहीं हैं, ये सब जानना कहलाती हैं। पाँचोंसे जाना उसका नाम रख लिया सुनना व्यवहारमें ताकि ज़्यादा गड़बड़ी न पड़े अर्थ लगानेमें। यों ही सभी इन्द्रियोंसे जानने जाननेकी ही बात रख ली गई तो जरा देरमें बात समझमें आगयी और व्यवहार-व्यवस्था नहीं बन पायी इसलिए ये ५ नाम रख लिये– सुनना, देखना आदिक। पर सुनना, देखना आदिक कोई बात नहीं है, सब जानना ही जानना है।

दर्शन और ज्ञानमें अन्तर जो अर्थ कानोंसे जाने उसका नाम सुनना है, जो अर्थ आंखोंसे जाने उसका नाम देखना है। नाकसे अर्थका ज्ञान करना इसका नाम सूंघना है, जिह्वासे अर्थका ज्ञान करना इसका नाम स्वाद लेना है और शरीरसे भिड़कर छूकर जो कुछ ज्ञान करना है उसका नाम छूना है, पर हैं ये सब ज्ञान ही ज्ञान। हमने हाथसे जाना, हमने जिह्वासे जाना तो चूंकि जानना जानना इन्द्रियमें लगा तो बोलचालमें जरा जल्दी समझ न पाते इसलिये भिन्न भिन्न उसके शब्द बना दिये गये हैं। लेकिन वे सब जाननेके ही रूप हैं; देखनेके रूप नहीं। देखना बहुत ऊंची चीज है और वह होती है आत्माके ही प्रति। पदार्थोंका देखना नहीं हुआ करता। देखना होता है आत्माका। दर्शन होता है।

इन्द्रियोंमें आत्माके ज्ञान करानेकी अशक्यता आत्माका। ज्ञान होता है पर पदार्थोंका भी। तो ये इन्द्रियां सब पर पदार्थोंके ज्ञानमें निमित्त हैं। आत्माके प्रतिभासमें निमित्त नहीं है। कोई मनुष्य अपने आत्माको समझना चाहे और इन इन्द्रियोंका प्रयोग करे जैसे कोई चीज जरा साफ नहीं दिखती है तो आखोंपर जोर लगाकर उसको देखते हैं तो कुछ दिख भी जाता है। तो इस तरह हम आत्माको देखनेके लिये आखोंका जोर लगायें या किसी इन्द्रियका जोर लगायें तो क्या आत्माका प्रतिभास हो जायगा ? नहीं हो सकता। तो देखना हुआ करता है आत्माका और जानना हुआ करता है पर पदार्थोंका। यों ही सूंघना स्वादना, संकल्प विकल्प विचार कल्पनाएँ आदि करना ये सब ज्ञानके रूपके सिवाय और कुछ है ही नहीं। यह सब एक स्वरूप दृष्टिसे ध्यानमें आयगा। तो सुख क्या है ? ज्ञानसे कुछ अलग वस्तु नहीं है जिसको कि तुम यों कह रहे हो शङ्काकारों कि सुखका तो प्रतिभास हो

http://sahjanandvarnishastra.org/

जाता है, भान हो जाता है प्रत्यक्ष हो जाता है मगर सुखका भान करने वाला जो ज्ञान है सुखज्ञान उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अरे सुखज्ञान और दुःख कुछ अलग वस्तु नहीं है। ज्ञानका ही रूप सुख है। तो जब सुखका प्रत्यक्ष हुआ, प्रतिभास हुआ तो ज्ञानका प्रतिभास हुआ। ये लोग ज्ञानको तो परोक्ष मानते हैं, इसका भान नहीं होता, पर ज्ञानके द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है उस पदार्थको स्पष्ट माना है। यह है और प्रायः करके संसारी जीवोंके ऐसा हो ही रहा है। कोई चीजको हम निरखते हैं जानते हैं, सब साफ साफ मालूम होता है पर जो ज्ञान जान रहा है वह ज्ञान तो आधा साफ भी नहीं मालूम होता। और।

बाह्य दृष्टि ही आकुलताकी जननी—इन्हीं भूले भटके और उस कलाको न प्राप्त करने वाले लोगोंकी वृत्ति देखकर यह सिद्धान्त रखा जा रहा है कि ज्ञान तो भानमें नहीं आता, पर ज्ञानसे जो जो कुछ जानते हैं वह सब भानमें आता है और सिद्धान्त यह है कि ज्ञान तो भानमें पहिले आयगा ही, तब पदार्थका भान कहलायेगा नहीं तो पदार्थका कुछ भान नहीं। लोगोंकी दृष्टि बाह्यकी ओर है। अतएव भानमें आता रहता हुआ भी ज्ञान लोगोंकी दृष्टिमें नहीं है और बाहरी चीज दृष्टिमें है। तो सुख आदिकका सम्वेदन कुछ अलग वस्तु नहीं है, केवल एक आल्हाद प्रसन्नताके आकारमें परिणत हुआ ज्ञान विशेष ही सुख कहलाता है। क्या हुआ कि थोड़ी देरमें खबर आयी कि अमुक व्यापारमें २ लाखका टोटा पड़ गया। तो इतनी खबरके मिलते ही सेठजी बेहाल हो रहे हैं, बड़ी बेचैनीमें हैं। कहाँ तो अभी गप्पें उड़ रही थी, अब क्या हो गया? वह तो बड़ा दुःख महसूस कर रहा है। अरे, बात वहाँ यह हो गयी कि उसका ज्ञान इस रूपमें परिणम गया कि वह पलङ्गपर पड़ा हुआ भी दुःखी हो रहा है। हाय! बड़ा नुकशान हो गया, अब क्या होगा, ऐसा सोच सोचकर वह सेठ बड़े क्लेशका अनुभव कर रहा है तो उस सेठपर जो कुछ गुजर रहा है वह सब ज्ञानका ही रूप है, और कोई दूसरा नहीं है। और, कदाचित् थोड़ी देर बाद उसी व्यापारके बारेमें यह खबर आ जाय कि उसमें ४ लाखका लाभ हो गया। अब देखिये बाजे बज रहे हैं, संगीत हो रहे हैं, लोगोंका खूब मेल मिलाप, स्वागत हो रहा है। खूब लोगोंको खिला पिला रहे हैं। अरे क्या हो गयी हो कुछ नहीं गया। अब उस ज्ञानने अपना और तरहका आकार बनाया। जो पहिले बनाये हुए ज्ञानसे विलक्षण है। बड़ा लाभ हुआ, बड़ा बड़प्पन बना, अच्छा भाग्य जगा, इस प्रकारके ज्ञानके विचार बनने लगे जिसके प्रसादसे अब इस इस प्रकारकी चहल पहल हो गयी। दोनों ही स्थितियोंमें हुआ क्या? ज्ञानके रूप बने। तो आत्माको एक ज्ञान स्वरूपमें देखो और यह निर्णय करते जावो कि प्रत्येक परिणतियोंमें हुआ क्या, एक ज्ञानका ही ऐसा परिणमन हुआ। यह तो लोक व्यवहारकी बात कही, मोक्षमार्गकी और संसार मार्ग की विधिकी बात सुनो।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका ऐक्य ही मोक्षमार्ग—मोक्षमार्ग है सम्यग्द-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

र्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जीवादिक ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जिस स्वरूपमें है उस स्वरूपमें उसका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। और, सम्यग्ज्ञान जो पदार्थ जिस रूपसे मौजूद है उस रूपसे परिज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। और सम्यक् चारित्र आत्म स्वरूपमें लीन होना, जिस प्रकार विषय कषायोंके परिणाम रुके उस प्रकार अपने आपको बनाना सम्यक्चारित्र है। तो मोक्षमार्गमें ये तीन बातें आती हैं क्या? देखिये प्रयोजन वश भेद करके बोला जाय तो यह सब सही है और जब इस दृष्टिसे देखो कि वे तीन बातें कुछ नहीं हैं तो क्या ? ज्ञानका ऐसा एक परिणमन है। देखिये आग जल रही है तो वह जो कुछ भी कर रही है वह तो एक ही बात होगी ना।

प्रत्येक वस्तुमें अनेक स्वभावकी उपलब्धि– जब एक चीज है तो उसकी एक बात है, एक स्वभाव है, एक परिणमन है, पर लोग बोलते तो अनेक ढंगसे हैं। यह अग्नि प्रकाश करती है, हाथ जलाती है, रोटी सेंकती है, कमरेका अशुद्ध वातावरण मिटाती है, पर इतनी भिन्न भिन्न बातोंको आग कर रही है क्या ? हाँ कर भी रही है। जब हम भेद दृष्टि करके न्यारे न्यारे रूपमें देख रहे हैं तो हाँ ठीक उत्तर है लेकिन वह जो कुछ कर रही है वह एक ही काम कर रही है और अनेक पदार्थोंके विभिन्न परिणमनमें वे निमित्त बने हैं इस कारण लोग उसके अनेक काम बतलाते हैं। बड़ी सूक्ष्मतासे देखो तो आग पर कागज डाल दिया तो लोग तो यह कहते हैं कि आगने कागज जलाया पर यह बात सही नहीं है। आगकी समीचीनता पाकर कागज जल गया यह बात सही है आगने कमरेको प्रकाशित कर दिया यह कहना सही नहीं है, अग्निकी ज्वालाका सन्निधान पाकर सब पदार्थ प्रकाशित हो गए। तो जितने काम बनते हैं किसी एक पदार्थका निमित्त पाकर लेकिन उसमें हमारी शक्ति हमारी कला, हमारी क्रिया ये सब बातें बताते हैं पर वस्तुतः प्रत्येक पदार्थमें एक ही काम चलता रहता है। वह अभेदरूप परिणमन है अब इस दृष्टिसे निहारो। मोक्षमार्गमें ज्ञानने क्या किया ? यह ज्ञान जीव आदिक ७ तत्त्वोंके दर्शन स्वभावरूपसे परिणम गया। यह ज्ञामका काम हुआ, जिसे तुम सम्यग्दर्शन कहते हो ज्ञानने समस्त पदार्थोंको जैसा है वैसा जाना। यह काम हुआ सम्यग्ज्ञानका और यह ज्ञान ज्ञानस्वरूपमें मग्न हो गया यह काम हुआ सम्यक् चारित्रमें। सो यह भी ज्ञानका ही रूप बना,

मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र संसारका मार्ग–अच्छा, और जब संसार मार्ग चलता है तब मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्या चारित्र संसारके मार्ग हैं। पर पदार्थ हैं बिल्कुल भिन्न और मान लिया कि मेरे हैं यही मिथ्यादर्शन है ना। पदार्थका स्वरूप है और भाँति जान लिया और भाँति, इसका नाम मिथ्याज्ञान है और ज्ञान अपने स्वरूपमें न रमकर बाह्य पदार्थोंमें इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके रमे इसका नाम है मिथ्याचारित्र। संसारके इन नामोंमें क्या ते तीन बातें अलग–अलग हैं ? नहीं।

Version 1

वे तीन भी ज्ञानके रूप हैं, यह ज्ञान पदार्थोंको और और प्रकारसे भानमें लेने लगे, और और रूपसे श्रद्धान रूप करने लगे यही हुआ मिथ्यादर्शन, वह भी ज्ञानका एक प्रकार है और पदार्थ है अन्य भांति जान लिया अन्य भांति इस रूपसे ज्ञानकी जो वर्तना है उसका नाम है मिथ्याज्ञान। और, यह ज्ञान अपने आपमें न रमकर बाह्य पदार्थोंको विषय बनाकर कल्पनामें मानता है यही है मिथ्याचारित्र। तो ये भी सब ज्ञानके ही रूप हुए, और हम आपको ज्ञानके ही रूप भानमें आया करते हैं। तो यह ज्ञान भानमें नहीं आता और पदार्थ ही साफ भानमें आ रहे हैं यह कहना कैसे सही होगा? बल्कि कहा जा सकता कि पदार्थ भानमें नहीं आ रहे।

पदार्थके जानते समय ज्ञानका ज्ञानत्व— बस ज्ञान ही ज्ञान ज्ञानमें आ रहा, यह कमण्डल है यह चौकी है इस प्रकार जो यहाँ ज्ञान बन रहा, प्रतिभास हो रहा वह आ रहा हमारे ज्ञानमें। ये बाहरमें ठहरे हुए पदार्थ हमारेभानमें नहीं आ रहे यह तो कहा जा सकता है पर यह नहीं कहा जा सकता कि ये सब पदार्थ तो तो मेरे ज्ञानमें स्पष्ट हो रहे हैं, पर यह ज्ञान नहीं स्पष्ट होता है। है क्या बला? या मुझे छूता ही नहीं, मुझसे न्यारा है, जो मुझसे कुछ कराता रहता है। यों अपने ज्ञानको स्वभावको परोक्ष मानना, अपनेसे भिन्न परखना यह बात युक्त नहीं है। जो ज्ञान स्वका और परका व्यवसायी होता है वह ही ज्ञान सच्चा है, प्रमाणभूत है। जो ज्ञान स्वव्यवसायी नहीं है वह परका भी व्यवसायी नहीं होता।

जो स्वयं व्यवस्थित रहता है उसपर दूसरोंको व्यवस्थित करनेका उपचार भला लोकमें जो खुदकी तो व्यवस्था किसी प्रकारकी न बनाये और दूसरों की व्यवस्था बनाता फिरे उसे लोग पागल कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस प्रसङ्ग आप कुछ शङ्कायें भी रख दे कि जो गाँधी जैसे नेता हुए वे तो खुदकी कुछ व्यवस्था न बनाते थे, जिस चाहे प्रकारसे रहते थे पर दूसरोंकी व्यवस्था बनाया करते थे। तो भाई ऐसी बात नहीं है। वे स्वयं व्यवस्थित रहते थे तब दूसरोंकी व्यवस्था करते थे। जो खुद व्यवस्थित नहीं है वह दूसरोंकी व्यवस्था नहीं कर सकता अब व्यवस्थित होनेके रूप न्यारे न्यारे हैं, कोई लोग इस हीमें अपनेको व्यवस्थित समझते कि जिस चाहे तरहसे कमाओ, खावो पियें, मौजसे रहो, और कुछ लोग इसको व्यवस्थित मानते हैं कि अपने स्वरूपसे कभी चलित न हों। और, इन दोनों जघन्य और उत्कृष्ट व्यवस्थाओंके बीचमें अनेक प्रकारकी परिस्थितिसे व्यवस्था बनती है। तो स्वयं व्यवस्थित है वह दूसरेका व्यवस्थापक बनता है। यों ही जो ज्ञान स्व व्यवसायी है वही ज्ञानपर पदार्थोंका भी निर्णय करने वाला है। ऐसा ज्ञानरूप मैं हूं। यों अन्तर्दृष्टि करके अपनेको ज्ञानमात्र निरखना चाहिए।

शब्दके न बोलनेपर भी आत्माकी अनुभूति— शब्दके न बोलनेपर भी अपने आपके आत्माका अनुभव होता है जैसे कि घट पट आदिक बाह्य पदार्थोंका नाम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

न बोलनेपर भी उसका प्रतिभास होता है और आत्माका सम्बन्धित ज्ञान सुख आदिक का भी प्रतिभास हुआ करता है, यदि सुखका प्रत्यक्ष नहीं मानते, प्रतिभास नहीं मानते, उसे अप्रत्यक्ष कहते तो परोक्ष ज्ञान द्वारा सुख ग्रहणमें आता है ऐसा माने तो मेरा मेरे द्वारा प्रत्यक्ष तो है नहीं अर्थात् मैं अपने सुखका स्पष्ट अनुभव कर सकता हूँ नहीं तब इस सुखसे मेरा कुछ अनुभव न बनना चाहिए, सुख होने पर जो प्रसन्नता है, अवग्रह है, अपना भला समझना है यह सब बात न होना चाहिए। अवग्रह तो तब बन सकता है जब अपना सुख अपने आपको प्रत्यक्ष स्पष्ट हो। यदि हमारा सुख हमें भी विदित न हो तो हम उसे स्पष्ट नहीं कर सकते और जो उससे हमारा अनुग्रह बन जाय भलाई बन जाय तो दूसरेके सुखसे भी हममें भलाई आ जाना चाहिए।

दूसरेके अनुग्रहसे कल्याणकी आपत्ति – क्योंकि अब तो जैसे मेरा सुख मेरे प्रत्यक्षमें नहीं आता इसी तरह दूसरों पुरुषोंका भी सुख मेरे प्रत्यक्षमें नहो आता अब दोनों ही सुखोंमें प्रत्यक्षता नहीं है तो जैसे अपने सुखसे अपना भला मानते हैं ऐसे ही दूसरेके सुखसे अपना भला हो जाना चाहिए। शायद यह कहो कि होता है तो उन का सुख निरखकर यह अपनी भलाई तो समझता है। पुत्रादिकके सुखमें हमें प्रत्यक्षता नहीं हुई लेकिन उनका सुख होता है ऐसा जब हम अनुमान कर लेते हैं तो इतने ही मात्रसे हममें दूसरेमें अनुग्रह आदिक पाया जाता है। तब यह एकान्तकी बात तो न रही। आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि यह भी मूर्ख पुरुषोंके लक्ष्यमें आयी हुई बात है। वास्तवमें तो पुत्रके जो सुख आदिक उत्पन्न होते हैं तो पुत्र आदिकके सुख होनेके कारण पिताको सुख नहीं होता, किन्तु पिताका मन कुछ अच्छा बना और उससे उन के सुखका अहंकार हुआ। मैं महान हूँ। मुझे पुत्रादिकसे बड़ा सुख है, बहुतसी महिमा है इस प्रकारका अपने आपमें अभिमान जगा उस अभिमानसे स्वयंमें जो सुख परिणमन हुआ उस सुख परिणमनके बिना पिताका अनुग्रह संतोष आदिक नहीं बनता। पिताने भला माना है तो अपने ही सुखसे माना है। पुत्रादिकके सुखसे नहीं माना। कारण कि पिताके चित्तमें स्वयं सुख परिणमन न हो, स्वयं मनमें प्रसन्नता न आये और फिर अनुग्रह बन जाय तो स्त्रीका भी सुख तब हुआ।

अपने सुखकी उपलब्धि अपनेसे ही—अथवा जिस पुत्रमें मोह नहीं रहा जो व्यसनी धूर्त होनेके कारण निकाल दिया गया और उसका सुख हुआ तो उससे भी पिताका अनुग्रह होना चाहिये। पिताको प्रसन्न होना चाहिए। इससे यह सिद्ध है कि अपना सुख अपने आपसे विदित होता है, प्रत्यक्ष होता है। साफ समझमें रहता है। तब अपना अनुग्रहभाव बनता है, प्रसन्नता बनती है। भला मानकर सन्तोष हो जाय वह बात बनती है इस कारण सुखको भी प्रत्यक्ष माना, परोक्ष ज्ञानसे ग्रहणमें आया सो नहीं। अर्थात जब कभी हमें किसीसे सुख होता है तो उस सुखके ज्ञान करने के लिये किसी दूसरेसे पूछना नहीं पड़ता। जैसे कभी शरीरमें कोई पीड़ा हो जाय तो

Version 1

उस पीड़ाके लिये दूसरेसे नहीं पूछना पड़ता कि पीड़ा कम है या ज्यादा या कहाँ पीड़ा अपने आपको प्रत्यक्ष अनुभवमें आती है।

सहज ज्ञान स्वरूप अनुभवके समय विशिष्ट आनन्दकी उपलब्धि— इसी प्रकार सुख भी हमारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है तब हम तुष्ट होते हैं। हमारा सुख हमारे ज्ञानमें विदित न हो और हम प्रसन्न हो जाएँ यह बात नहीं होती किसीसे पूछना नहीं पड़ता। एक वेदान्तके ग्रन्थमें एक कथानक आया है कि एक बहूके गर्भ रह गया, पहिली बार बच्चा पैदा होना था, तो उसे बड़ा डर लगे कि कहीं ऐसा न हो कि मैं सोती ही रहूँ और बच्चा पैदा हो जाय। साससे कह दिया कि जब हमारा बच्चा पैदा हो जाय तो हमें जगा देना, कहीं ऐसा न हो कि हम सोती ही रहें, पता ही न पड़े। तो सासने कहा कि अरी बहू जब बच्चा पैदा होगा, किसीसे जगानेकी प्रार्थना नहीं करना है। यही बात इन सुख दुःख ज्ञानोंमें है। जब किसी आशयसे सुख उत्पन्न होता है तो किसीसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं है कि मुझे सुख हुआ अथवा नहीं और जब विशुद्ध सहज ज्ञानस्वरूपका अनुभव जगता है उस समय जो एक विविष्ट आनन्द होता है उस आनन्दके लिये भी किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। मिठाई खाने वाले को किसीसे पूछनेकी जरूरत नहीं है कि मीठी लगी या नहीं। इसी प्रकार आत्मामें जो सुख दुःख ज्ञान अनुभव जो भी बात होती है वह आत्माको प्रत्यक्ष कराती हुई होती है। तो जितने भी सुख होते है, अनुग्रह होते हैं, प्रसन्नता होती है, सन्तोष होता है वे सब अपने आपके उस प्रकारके परिणमनसे होते हैं और वे प्रत्यक्षमें रहते हैं।

स्वके सुखरूप परिणमनके बिना परके अनुग्रहकी विफलता- देखो भैया! बाहरकी बातें तो छोड़ दो, पुत्रके सुख होनेसे हमें सुख हुआ, इन बातोंकी तो कथा छोड़ दो। यह परख लो कि सबसे निकट तो यह शरीर है, यह शरीर भी आत्माको सन्तोष नहीं कर पाता, जब तक कि यह जीव स्वयं अपने आपमें अहङ्कार करके सुख परिणति न बनाये हो। बनाये तो होता है। तो अत्यन्त निकट रहने वाला शरीर हमारे सुख परिणमनके बिना हमको अनुग्रह नहीं कर सकता, सन्तोष नहीं कर सकता तो अत्यन्त भिन्न पुत्र आदिककी चर्चा तो दूर रही। प्रयोजन यह है कि स्वयं स्वयंको प्रत्यक्ष रहे तो उसका सन्तोष होता है। यह बात कही जा रही है ज्ञानको स्वव्यवसायी सिद्ध करनेके लिए। ज्ञान अपने आपका अनुभव रखता है तब वह पर पदार्थोंका भी निर्णय करता है। अपनी बात अपने आपकी निगाहमें बहुत प्रत्यक्ष रहती है। प्रत्यक्ष तो रहती है सबको। चाहे कोई न माने उसको भी प्रत्यक्ष है और मानले तो उसको अत्यन्त स्पष्ट रहता है। कभी आत्मामें प्रसन्नता जगे, खेद जगे और जब जान करके, इच्छा करके अपने आपमें निरखने बैठिये तो अपने आपको खुद विदित हो जायगा। मैं क्या क्या विचार किया करता हूँ, कहाँ रहा करता हूँ, क्या सोचता रहता हूँ, ये सब परिणाम अपने आपको स्पष्ट होते ही हैं। इसीके मायने तो हैं प्रत्यक्ष।

स्वपर बीती बात स्वको ही स्पष्ट—जीवके प्रदेशोंमें ज्ञानावरणादिक कर्म भी बैठे हैं, राग द्वेष मोह विकार भी बैठे हैं। पर राग द्वेष मोह विकार तो हमारी समझमें नहीं आते, ये राग द्वेष मोह तो हैं अमूर्तिक, इनमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं है और ये ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म मूर्तिक हैं, इनमें, रूप, रस, गंध, स्पर्श पाये जाते हैं। तो मुकाबलेमें स्थूल चीज हुई कर्म। रागद्वेष मोह आदिक विकार सूक्ष्म हैं, पर ये रागद्वेष मोह विकार तो समझमें आते हैं पर ये कर्म समझमें नहीं आते इसका कारण क्या है? जो बात खुदपर बीती है, जिसका खुदपर अटैक है, वह यदि सूक्ष्म भी हो तो शीघ्र ही समझमें आ जाती है। जो बात खुदपर बीतती है वह खुद को स्पष्ट समझमें आती है। जैसे कि एक छोटासा कथानक हो कि राजा मंत्रीसे अड़ गया कि तू हमको आत्मा और परमात्मा बता। तो मंत्री बोला—महाराज कमसे कम ८-१० वर्ष तो चाहिएँ समझानेके लिये, पढ़नेके लिये, प्रयोग करनेके लिए। तो राजा ने कहा—अरे मंत्री हमारे पास इतना समय नहीं है। तो मंत्री बोला अगर हमारा कसूर माफ करो तो हम एक सेकेन्डमें समझा दें कि आत्मा और परमात्मा क्या है? राजाने कहा—अच्छा तुम्हारा कसूर माफ। तो मंत्रीने राजाका कोड़ा छीनकर १० कोड़ा मारा। राजा चिल्लाकर कहता है अरे रे रे भगवान। तो मंत्री बोला—अब आप समझ गए आत्मा और परमात्मा। जिसने अरे रे रे बोला वह तो है आत्मा और जिसे भगवान बोला वह है परमात्मा। तो इतनी जल्दी राजा क्यों समझ गया? क्योंकि वह बात खुदपर बीती। जो बात खुदपर बीतती है वह स्पष्ट समझमें रहती हैं। उस बातका स्पष्ट प्रत्यक्ष रहा करता है। पर, यहाँ यह दार्शनिक न तो ज्ञानको प्रत्यक्ष मानता है न सुख आदिकको प्रत्यक्ष मानता है। इसका मंतव्य यह है कि जिस ज्ञानसे हमने जाना यह घट है पट है आदिक। तो वह ज्ञान मेरा ठीक है या है भी ज्ञान। उसको समझनेके लिये हमें एक नया ज्ञान और बनाना पड़ता है। ऐसे ही सुख की बात मानता है कि सुख तो होता है पर वह प्रत्यक्ष नहीं होता। शायद इस बुद्धि से चलकर इस निर्णयपर पहुँचे हों कि वह सुख दुःख किसीको बताया नहीं जा सकता आपको कोई पीड़ा हुई और हम कहें कि जरा उस पीड़ाको हमारे हाथमें धरकर दिखादो, हम देख लें कि कितनी पीड़ा है तो क्या वह पीड़ा किसीको दिखाई जा सकती है? वह दिखाई नहीं जा सकती। उस दर्दका प्रत्यक्ष तो खुदको ही होता है, ऐसे, ही दर्द सुख दुःख ज्ञान आदिकका प्रत्यक्ष खुदको ही हो पाता है। शायद इस वजहसे कहते हों कि सुख और ज्ञान आदिक प्रत्यक्ष नहीं हुआ करते, लेकिन अपने आपमें गुजरने वाली बात अपने आपको ही अपने ही अन्दर प्रत्यक्ष न हो तो उस का कोई प्रभाव तो नहीं बन सकता। जैसे सुख होनेका प्रभाव है आत्मसन्तोष तृप्ति, तो ये सब प्रभाव भी न बनेंगे। इससे जो बात स्पष्ट है सीधी है, उसे अङ्गीकार कर लो।

शब्दके उच्चारण न करनेपर भी ज्ञान और आत्माके अनुभवकी उप-

http://sahjanandvarnishastra.org/

लब्धि—मान लो कि आत्मामें जो परिणमन होता है, ज्ञानका सुखका जिसका कि प्रभाव अनुग्रह आदिक पड़ता है वह प्रत्यक्ष होता है तो जैसे शब्दके न बोलनेपर भी अपने सुख दुःख आदिकके अनुभवनमें रहते हैं ऐसे ही पदार्थका नाम न लेनेपर भी पदार्थका प्रत्यक्ष होता है। अपने ज्ञान और आत्माका नाम न लेनेपर भी शब्द न उच्चारण करनेपर भी ज्ञान भी और आत्मा भी अनुभवमें रहा करते हैं। तो यहाँ तक यह सिद्ध किया गया कि सुख आदिक भाव प्रत्यक्ष होते हैं। इसपर अब शङ्काकार यह कह रहा है कि चलो मान लें कि सुख आदिककी प्रत्यक्षता होती है लेकिन वह प्रत्यक्षता भी तो प्रमाणसे होती है उस ही भावसे नहीं होती। इस शङ्काकारका आशय यह है कि जब कभी हम किसी पदार्थका ज्ञान करते हैं तो कभी कभी ऐसा भी सोचने लगते हैं कि यह मेरा ज्ञान सही है या नहीं, और उस ज्ञानको सही ठीक करनेके लिये हम दूसरा ज्ञान करते हैं ऐसे ही सुख तो हो गया, पर मुझे यह सुख हुआ है ऐसा अनुभव बनानेके लिये नया ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है। कुछ ऐसी दृष्टि बनी जिससे शङ्काकार यह कह रहा कि जिस ज्ञानसे हम पदार्थोंको जानते हैं ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, और जिस सुखको हम भोगा करते हैं वह सुख भी प्रत्यक्ष नहीं होता। और प्रत्यक्ष हो भी जाय तो अन्य प्रमाण द्वारा प्रत्यक्ष होगा, स्वयं न होगा क्योंकि स्वयमें स्वयंकी क्रियाका विरोध है। क्या कुल्हाड़ी खुदको काट लेगी ? क्या चाकू खुदको छीलने लगेगी ? स्वयंका स्वयं कोई क्रिया नहीं बनाता यों ही ज्ञान के स्वयं प्रत्यक्ष बननेकी क्रिया न बन सकेगी।

स्वकी क्रियाका स्वमें ही उपलब्धिका दृष्टान्त—यह शङ्काकार कह रहा है और उन दृष्टान्तोंको छोड़ देता है जिस दृष्टान्तसे यह सिद्ध होता कि खुदकी क्रिया खुदमें हुआ करती, ऐसा भी दृष्टान्त है जैसे सांप गोल मटोल बन गया, उसने अपनी कुण्डल करली तो सांपकी क्रिया खुदमें हुई कि नहीं ? अच्छा आग खुदको जलाकर खाक कर लेती या नहीं ? तो अपने आपकी क्रिया अपने आपमें भी होती है ऐसे भी दृष्टान्त हैं, उन्हें तो छोड़ दिया और तथ्य देखो तो अपने आपकी क्रिया अपनेमें ही होती है परमें नहीं होती। देखनेमें तो ऐसा लगता है कि कुल्हाड़ीकी क्रिया काठपर हुई पर ऐसा नहीं है। कुल्हाड़ीका ऊपर नीचे आना, घिस जाना, रङ्ग बदलना, आदि जो भी क्रियायें हो रही हैं वे कुल्हाड़ीमें ही हो रही हैं कुल्हाड़ीसे बाहर नहीं हो रहीं। इसमें विरोध कुछ नहीं है। तब यह कहो कि सुख आदिक प्रत्यक्ष तो होते हैं किन्तु अन्य प्रमाणोंसे प्रत्यक्ष होते हैं, यह बात बिल्कुल असंगत है, प्रत्यक्षसे विरोध है। जैसे कि घट आदिक पदार्थ जिनका कि स्वरूप हमने नहीं जाना, पीछे क्या रखा है हम नहीं जानते, मगर पीछे जो कुछ रखा है वह रखा ही है। पहिलेसे रखा है। अब हमने उस ओर दृष्टि दी और हमारे ज्ञानमें वह चीज विदित हो गयी कि यह चीज है इस तरह सुख उत्पन्न नहीं हुआ करता। सुख प्रत्यक्ष नहीं हुआ करता कि वह सुख पहिलेसे ही हुआ तैयार है। हमने उसे जाना नहीं, अब हम जानते हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तो इन्द्रियसे सम्बन्ध करते हैं तब वह ग्रहणमें आता है ज्ञान या सुख, ऐसी बात होती है क्या ?

स्वव्यवसायित्वसे ही ज्ञानमें प्रमाणताकी उपलब्धि– जैसे हमको यह अल्मारी प्रत्यक्ष हो गयी तो अल्मारी तो पहिलेसे है ना, ऐसी सुखकी तो बात नहीं है कि सुख पहिलेसे खड़ा तैयार चल रहा था पीछे हमने प्रत्यक्ष किया, यों नहीं हुआ करता, किन्तु प्रथम ही प्रथम क्यों सुख हुआ करता ? इष्ट और अनिष्ट विषयका अनुभव करनेके बाद सुख अथवा दुःख अपने ही प्रकाशसे अपने ही आपमें उदित हो जाता है। सुख होना, हमारे ज्ञानमें आना, उसका प्रत्यक्ष रहना ये सब बराबर एक साथ चलते हैं, इन पदार्थोंकी भांति नहीं कि यह पदार्थ पहिलेसे उत्पन्न हो और कई वर्ष गुजर जायें, बादमें हम उनका प्रत्यक्ष करें ऐसे सुख आदिक नहीं होते हैं, तो साथ ही साथ प्रत्यक्ष भी होता जाता है और उनसे अपने आपको तुरन्त तृप्ति और सन्तोष भी होता रहता है इस कारण यह बात सही है सो मानो कि सुख ज्ञान ये सब अपने आप प्रत्यक्ष हुआ करते हैं और वही ज्ञान प्रमाण है। जो ज्ञान स्वव्यवसायी है अपने आपका भी निश्चय करता है।

ज्ञानसे ही ज्ञानका प्रत्यक्ष जिस ज्ञानसे हम पदार्थको जानते हैं वह ज्ञान उस ही ज्ञानके द्वारा प्रत्यक्ष रहा करता है। अर्थात् उस ज्ञानका भान बना रहता है और इसी तरह जो सुख दुःख आदिक परिणाम जीवमें उत्पन्न होते हैं वे परिणाम भी प्रत्यक्ष रहा करते हैं अर्थात् भानमें रहते हैं। अपनेको सुख तो हो जाय और अपनी समझमें न आये तो सुखका फल क्या पाया ? प्रसन्नता तो नहीं हुई, अनुग्रह तो नहीं बना, तो सुख भी अपने आपको प्रत्यक्ष हुआ करता है

स्वज्ञानको अन्य अन्य ज्ञान द्वारा जाननेमें अनवस्थाकी उत्पत्ति इस पर शङ्काकारने यह आपत्ति की न तो वह ज्ञान प्रत्यक्षमें रहता है और न सुख प्रत्यक्ष में रहता है और रहता है तो किसी दूसरे ज्ञानसे वह जाना जाता है। सुख होता है। तो उस सुखका कराने वाला ज्ञान कराने वाला एक नया ज्ञान और बनता है, तब उस नये अन्य ज्ञानसे प्रमाणसे सुख आदिक प्रत्यक्षमें आते हैं और इस विषयमें आपत्ति यह आती है कि सुख आदिकको जाना हमने अन्य प्रमाणसे और वह प्रमाण भी जाना जायगा किसी अन्य प्रमाणसे वह ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानसे। इस तरह अनवस्था हो जायगी और दूसरी बात यह है कि जो भिन्न प्रमाण द्वारा ग्रहणमें आ रहा वह उत्कृष्ट प्रसन्नता आत्म सन्तोष नहीं बन सकता।

स्वसुखको स्वय न जाननेपर फलकी अनुपलब्धि—हमारा सुख तब भी प्रकट होता है उसी समय हमारा गुजारा है। प्रत्यत है, हम पर भानमें है और उस ही कालमें हम सन्तोष करते हैं। अनुग्रह मानते हैं। कहीं उस सुखको जाननेके लिये

http://sahjanandvarnishastra.org/

नया ज्ञान बनाना पड़े तब उसका फल यह तो नहीं देखा जाता। किसी भी भोग भोगनेके कारणसे जो सुख आदिक होते हैं वे किसी दूसरे आत्माको प्रसन्नता ला दें, अनुग्रह कर दें ऐसा तो नहीं होता। जिसमें सुख परिणमन होता है वही तो उस सुख का लाभ लेता है कि दूसरा लेगा। तो जब तक अपना सुख अपने आपके भानमें न आये तब तक उसका फल तो न मिलेगा। अब यह शङ्काकार यह बात रख रहा है कि दूसरेके सुख आदिक अनुमान जन्य है इसलिये दूसरेको आत्मसंतोष नहीं मिलता और अपना सुख अपने प्रत्यक्षगम्य है इस कारण अपने आपमें उसका सन्तोष बनता है तो यह भी बात यों सारभूत न बनेगी कि हमारे सुखको जैसे हम प्रत्यक्ष करके जानते हैं ऐसे योगिराज सर्वज्ञदेव प्रभु भी उस सुखको प्रत्यक्ष करदे। केवल ज्ञानके द्वारा तो कोई भी चीज बच न जाय, ज्ञानमें न आये तो वहाँ भी संतोष अनुमान हो जाना चाहिए क्योंकि जैसे हम अपने सुखको प्रत्यक्षमें ले लेते ऐसे ही सर्वज्ञदेव प्रभु योगीश्वर भी सबके सुखको प्रत्यक्षमें लेते हैं। शायद यह कहो कि नहीं अपना ही सुख है वही अनुग्रह करता है, तृप्ति करता है दूसरेका सुख नहीं यह बात कहना यों व्यर्थ है कि जब सुख और दुःख बिल्कुल न्यारे न्यारे पदार्थ लगने लगते, क्या उनमें वह सुख किसी अन्य प्रमाणके द्वारा ग्रहणमें आता है ऐसा मानते तो यह भी सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख मेरा है।

सुखकी आत्मस्वरूपसे अभिन्नताकी सिद्धि— प्रथम तो वह सुख आत्मस्वरूपसे भिन्न माना, दूसरेके सुखको किसी अन्य ज्ञानके द्वारा विदित माना तो तुम यह कैसे कह सकते हो कि यह सुख मेरा है? यदि सुख हमारा परिणमन है यों मानो तो और अपने आपपर बीतने वाली बात है यों मानो तब कह सकते हो कि यह सुख मेरा है, तथ्यसे गिर जानेपर स्वरूप जैसा है वैसा भानमें न लेनेपर यह भी सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख मेरा है, यह ज्ञान मेरा है। वह सुख क्या आत्माका गुण है, इसलिए आत्माका मानते हो? सुख आत्माका कार्य है क्या इसलिए सुखको आत्मा का मानते? या सुख आत्मासे आदेय है? जैसे गागरमें पानी। पानी आधेय है गागर आधार है, ऐसे ही क्या सुख आदेय है और आत्मा आधार है। इसलिये सुखको आत्माका कहते हो? अथवा उस आत्मामें ही मुझसे वह सुख उत्पन्न हुआ है इस कारण सुखको आत्माका बताते! यों सुख आत्मा कैसे है? इस सिद्धिके लिए ५ विकल्प उठाये गए हैं। अब उनका क्रमसे वर्णन सुनो। सुख आत्माका आत्मगुण होने के कारण तुम सिद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि सुख और आत्मा ये बिल्कुल न्यारी न्यारी चीजें हैं। हैं नहीं, पर यह दर्शन मानता है जिसकी चर्चा चल रही है। ज्ञान भी जुदा है, सुख भी जुदा है, आत्मा जुदा है। ऐसा जो कहा करते हैं उनको कहा जा रहा है कि जब सुख न्यारा है, आत्मा न्यारा है तो यह कैसे कह सकते कि सुख आत्मा का गुण है। आकाश आदिकका नहीं है या अन्य आत्माका नहीं है। जब हमारा सुख हमारेसे न्यारा है तो कैसे हम कहेंगे कि यह सुख हमारा है? कोई कह बैठेगा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कि यह सुख तो आकाशका है, यह सुख तो किसी विदेशमें रहने वाले आत्माका है। तो गुण होनेके कारण सुखको गुण मान करके आत्माका सिद्ध नहीं कर सकते क्योंकि वे दोनों भिन्न भिन्न तत्त्व हैं।

सुख आत्माका कार्य – यदि यह कहो कि आत्माका कार्य है यह सुख इस कारण आत्मा कहलाता है। यहाँ यह सिद्ध करवाया जा रहा है कि यह सुख आत्मा का है। यह कैसे सिद्ध करलोगे भेदवादीजन जो मानते हैं ज्ञान न्यारा, आत्मा न्यारा, सुख न्यारा। तो यह ज्ञान सुख आत्माका है यह तो नहीं सिद्ध कर सकते, तो आत्मा का कार्य है सुख इस कारण सुखको आत्माका बताते हो तो कहा जाता कि यह सुख आत्मा कार्य है। जब सुख आत्मासे भिन्न तत्त्व है तो यह सुख आत्माका ही कार्य है, यह कैसे समझा ? यदि यों समझा हो कि आत्माके होनेपर सुख होता है।

सुखका समवायिकारण आत्मा – इस कारण सुख आत्माका कार्य है तो लो यों भी विरोधमें कहा जा सकता है कि आकाशके होनेपर सुख होता है इस कारण सुख आकाशका है। सुख आत्माकी चीज है, यह दृष्टि नहीं बन रही भेदवादियोंसे। यदि यह कहें कि आकाश तो एक निमित्तकारण है, इस कारण आकाशका कार्य नहीं बता सकते। तो यह बात आत्मामें मान लो। आत्मा भी निमित्तकारण है। शङ्काकार कहता है—नहीं, आत्मा तो समवायकारण है। समवाय कारणके बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता और आकाश निमित्तकारण है, समवाय कारण उपादानकी तरह होता है, जिसमें कार्य मिला हुआ हो उसे समवाय कारण कहते हैं। तो आत्माका सुख है, आत्मा समवाय कारण है। आकाश आदिक तो समवाय नहीं है, कोई इसके खिलाफ कह दे तो सुखका समवाय कारण आकाश है, आत्मा नहीं। तो सुखको आत्माका तत्त्व माननेपर यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख आत्माका है। यदि यह कहें कि सुखकी निकटता आत्मासे है इस कारण सुखका समवाय कारण है, अभिन्न कारण है, जिसमें सुख उत्पन्न होता है ऐसा कारण आत्मा ही है। तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि देश कालकी निकटतासे तो यह भी जानकारी है आत्मा जैसे आकाश हमेशा रहता है ना, सब जगह रहता है ना, ऐसे ही इसका आत्मा भी सब जगह रहता है, एक व्यापी सब जगह रहता है, फिर सुखका समवाय कारण जिसमें सुख मिले वह आत्मा ही है, आकाश नहीं है यह कैसे सिद्ध कर सकते ?

सुख एवं ज्ञानरूप परिणमन आत्माके कार्य—मतलब यह है कि सुख और ज्ञान हैं तो आत्माके परिणमन, आत्माके कारण और चूँकि आत्माके काम हैं इसलिए आत्माको ये भान भी रहा करते, किन्तु ऐसा न मानकर सुखको और ज्ञान को आत्मासे अत्यन्त जुदा मान लिया जाय तो यह भी सिद्ध न किया जा सकेगा कि यह सुख आत्माका है, यदि योग्यताकी बात कहो तो जैसी योग्यता आत्मामें है वैसी योग्यता आकाश आदिकमें है। देखिये ! जैनशासनमें वस्तुका स्वरूप इस भाँति

http://sahjanandvarnishastra.org/

बताया है कि प्रत्येक पदार्थ हैं और जब वे हैं तो कोई न कोई स्वभाव लिए हुए हैं। और यह स्वभाव है तो एक रूप लेकिन भेदव्यवहारसे हम उसे नाना रूपमें भी निरख सकते। वह ही कहलाता गुण। वस्तु जैसे शाश्वत है, सदाकाल रहता है।

गुण, शक्ति, स्वभावके त्रिकाल स्थायित्व इसी प्रकार वह गुण भी, शक्ति भी, वस्तुका स्वभाव भी ये सदाकाल रहा करते हैं। और, वस्तुका ऐसा प्रभाव है कि वह निरन्तर भी किसी न किसी अवस्थामें रहता, सो प्रत्येक गुण अपनी नवीन नवीन अवस्था बनाते चले जाते हैं। चाहे वे अवस्थायें समान समान बनें या विषम बनें तो वह कहलाया पर्याय। यों गुण और पर्यायका जो आधार है द्रव्य है उस द्रव्यसे यह गुण न्यारा है या अभिन्न है। तो अनेक दर्शन ऐसा मानते हैं कि पदार्थकी वह शक्ति, पदार्थके वे गुण, पदार्थके वे परिणमन पदार्थसे न्यारे हैं। तो जब वे पदार्थ से न्यारे हो गए गुण तो यह कैसे कहा जा सकता कि यह गुण इस पदार्थका है? इसी सिलसिलेमें सुख और ज्ञानको ये न्यारा बता रहे हैं तो न्यारा माननेपर यह कैसे सिद्ध होगा कि यह सुख आत्माका है ? और जिसमें सुख होता है उसको सन्तोष हो तो फिर उस संतोषका भी कोई प्रबंध न बन सकेगा। सुख भी कहीं न हो, जब सब आत्मावोंसे जुदा है तो सुख कैसे हुआ ? कोई व्यवस्था नहीं बन सकती।

आत्मामें अपने लिये अपने द्वारा सुखोत्पादकत्व यदि कहो कि आत्मा आत्मामें अपने आपके लिये सुखको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है आकाश आदिकमें नहीं है। यह बात तो यों न बन सकेगी कि जब सुख आत्मासे अत्यन्त भिन्न मान लोगे तो आत्मामें ही अपने लिये सुखको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य है यह कैसे कहा जा सकता कोई यों कह दे कि सुखको उत्पन्न करनेकी आकाशमें सामर्थ्य है और फिर आत्माकी यह सामर्थ्य भी अपने आत्मासे भिन्न है तो यह सामर्थ्य भी आत्मामें है कि अन्यकी नहीं है यह भी विभाग नहीं बन सकता। देखिये जैसे जब कोई बच्चा रूठ जाता है तो उसे कोई कुछ भी दे तो वह उसे झट फेंक देता है, वह प्रसन्न नहीं रहना चाहता ऐसे ही जब भेदका एकान्त कर लिया तो वह भी किसीको अपना नहीं मानता। उनके तो यही हठ रहती है कि मैं सबसे न्यारा हूँ। आत्मामें सामर्थ्य है ऐसी कि सुखको उत्पन्न करले, तो वह सामर्थ्य भी तो जुदी है आत्मासे। कुछ सिद्धि नहीं हो सकती। किसी रूपमें किसी दृष्टिमें जरा भी गुंजायश निकले और उसको सर्वथा एक मत मान ले तो वहींसे फिर एकान्तवाद दर्शन हो जाता है। ज्ञान आत्मासे न्यारा है मगर कहनेके लिये समझानेके लिये ज्ञानका नाम ज्ञान है आत्माका नाम आत्मा है। ज्ञान एक गुण है, आत्मकी एक विशेषता है। आत्मा एक पदार्थ है। थोड़ासा कुछ भेदरूपसे समझनेके लिए गुंजायश हो नहीं और एकान्त भेद मान ले, ज्ञान आत्माका है ही नहीं अत्यन्त भिन्न है तो वह एकाग्र बन गया। और, इस तरह तो बहुतसी बातें बोलते। शरीरका रूप। तो रूप और शरीर क्या न्यारे न्यारे हो गये ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रत्येक वस्तुके अनेक गुणात्मकताकी सिद्धि – और देखिये एक दृष्टिसे समझनेके लिए रूप शरीरसे न्यारा है क्योंकि शरीर केवल रूप मात्र नहीं है, इसमें रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, और और भी बहुत सी बातें हैं वे सब रूप शरीर हैं शरीर रूप मात्र नहो हैं। इस कारण रूप एक गुण है शरीरका। इतना तो भेद समझमें आया, पर वस्तु न्यारे-न्यारे हो जायें लो रूप यह धरा, शरीर यह धरा यों न्यारे न्यारे हो जायें, यह बात नहीं है। यहाँ छोटे बच्चोंको प्रसन्न करनेके लिये दादी और नानी ये ज्यादा गप्पें मारा करती हैं। तो एक बार हमारी दादीजी बोलीं— बच्चा! पहिले जमानेमें यह शिर गूँथा जाता था, सो पेंच निकाल लिया, आगे रख लिया और गूँथ लिया शिरमें लगा लिया और पेंच लगा दिया। तो एक भान उससे ले सकते कि तिलक संहनन भी होता है और एक हड्डीसे दूसरी हड्डीके जलानेमें कीलियाँ काम करती हैं। शायद सुन रखा हो कीलक संहनन, उसी धुनमें बात बतायी हो। ऐसे ही इस ढङ्गकी एक गप्प है - ज्ञान आत्मासे अलग है, उसे सम्हाललें फिर आत्मा में फिट करलें तब आत्मा ज्ञानी बनता। उसी तरहकी गप्प है—सुख भी आत्मासे न्यारा है, उसे ग्रहण करलो, आत्मामें फिट करलो। अरे, न्यारा कहाँसे है, एक कहने मात्रको न्यारा है समझानेके लिये, पर वस्तु न्यारी हो यह कैसे बन सकता है? प्रत्येक वस्तु स्वभावमात्र होती है।

स्वभावरूपता वस्तुका प्राण स्वभावको छोड़कर वस्तु और क्या है? तो ज्ञान और सुख आत्माके ज्ञान और आनन्द गुणके परिणमन हैं। भले ही जैसे कोई मनुष्य घरसे बाहर किसी कामके लिये दौड़कर जाय लालचवश और दरवाजेका कोई हिस्सा शिरपर लग जाय और न मालूम पड़े क्योंकि बाह्य पदार्थकी तृष्णामें वह उस ओर भागा जा रहा है, न मालूम पड़े, फिर भी चोट तो उसके शिरपर आयी है। उस समय न मालूम पड़े, किन्तु थोड़ी देरके बादमें तो मालूम ही पड़ेगा जब कि पता पड़ेगा कि ओह! यह तो शिरमें खून लगा है। वह बात तो खुदपर बीती है, उसे कोई दूसरा क्या समझाये, वह तो खुद समझ लेगा, ऐसे ही ज्ञान और सुख ये सब खुदपर ही तो बीतते हैं, खुदके आत्माके ही तो परिणमन हैं। भले ही किसी बाहरी उपयोगके कारण इस ओर ध्यान न दे, पर जो खुदपर बीतते हैं सुख दुःख आदिक उनका प्रत्यक्ष स्वयंको हुआ करता है। ऐसा नहीं है कि सुख और ज्ञान न्यारे हों, आत्मा न्यारा हो, फिर आत्मामें सुख और ज्ञानका समवाय बनाया जाय, सम्बन्ध बनाया जाय। समवाय और कुछ चीज नहीं है।

तादात्म्य एवं संयोग सम्बन्धकी सार्थकता—सम्बन्ध दो प्रकारके हैं ना—एक संयोग एक तादात्म्य तादात्म्य कहना मात्र है, वह भी पदार्थका स्वरूप है। जैसे अग्निमें गर्मी यह है तादात्म्य सम्बन्ध। और घड़ेमें चने, यह तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। तो ज्ञान और सुखका सम्बन्ध आत्मामें तादात्म्यसे है, संयोगसे नहीं है। तो

Version 1

जब सुखको आत्मासे जुदा मान लेते तो यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह सुख आत्मा का है, यह सुख आत्माका कार्य है, यह अन्वय मात्रसे नहीं बन सकता। शायद यह कहो कि आत्माका अभाव हो तो सुखका भी अभाव हो जायगा, इस कारण सुख आत्माका कार्य है। तो भाई आत्मा तो हमेशा रहता है, सर्वव्यापी है, उसका कभी अभाव ही नहीं रह सकता। जैसे आकाशका कभी अभाव ही नहीं बन सकता ऐसे ही आत्माका भी अभाव नहीं बन सकमा। तो सुख आत्माका कार्य है आकाशका नहीं है। यह बात कैसे सिद्ध करोगे ? समवाय सम्बन्ध तो कुछ चीज नहीं है, इस कारण यह बात मान लो कि आत्मामें ज्ञान आत्माके परिणमनसे बनता है और प्रत्येक ज्ञान होते ही हैं। आत्माका अन्यमें भान बनाने वाला प्रत्यक्ष करने वाला होता है, ऐसे ही सुख भी आत्मामें होता है और आत्माका भाव कराता हुआ होता है।

स्वके ज्ञान और सुख आदिकी स्व द्वारा ही प्रत्यक्षकी सिद्धि– अपना सुख समझनेके लिए हमें कोई नया ज्ञान बनाना पड़ता है क्या ? अथवा हम किसी पदार्थको जानते हैं तो जिस ज्ञानसे हमने जाना उस ज्ञानकी समझ बनानेके लिए हमें नया ज्ञान बनाना पड़ेगा ? अरे, वह ज्ञान और सुख स्वयं ही ऐसी प्रकृतिको लिए हुए है कि स्वयं स्वयंके द्वारा प्रत्यक्षमें रहा करते हैं, इस कारण ज्ञानको स्वव्यवसायी मानो। ज्ञान स्वपर प्रकाशक है, अपने आपको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है। इसमेंसे स्वको भी जानता है, इसका कुछ दार्शनिकोंने निषेध किया था। उस प्रसङ्गमें यह सिद्ध किया जा रहा है कि ज्ञान स्वका भी व्यवसायी है। यदि स्वका निर्णय न रखें तो परका भी निर्णय यह ज्ञान नहीं कर सकता। ज्ञान स्वका प्रकाश नहीं करता अर्थात् ज्ञान ज्ञानको नहीं जानता। यहाँ सिद्ध करते हुए शङ्काकारने यहां तक कह डाला कि आत्मामें जो सुख उत्पन्न होता है उस सुखका जो ज्ञान चलता है वह भी भानमें नहीं है, प्रत्यक्ष नहीं है। तो इस बातपर यह आपत्ति दी गयी थी कि तुम्हारा सुख भानमें नहीं रहता और भिन्न भी मानते आत्मा जुदा है, सुख जुदा है, तो फिर यह सुख आत्माका है यह कैसे निर्णय किया जा सकता है ? यदि यह कहो कि सुख आत्मामें पाया जाता है, सुख आत्मामें आधेय हैं, आत्मा आधार है, इस आधार आधेय सम्बन्धके कारण यह कहा जा सकेगा कि सुख आत्माका है। तो आधेयका अर्थ क्या है। आधेय मायने क्या, सुखका आत्मामें सम्वय हो जाता है, एक-मेक मिल जाता है अथवा उसका तादात्म्य हो जाता है, या आत्मामें सुख प्रकट हो जाने मात्रका नाम आधेय कहोगे ? ये तीन विकल्प किए समवय सम्बन्ध तो कोई चीज ही नहीं। या तो होता है संयोग ता होता है। तादात्म्य।

आत्मा और ज्ञानके तादात्म्यकी सिद्धि– जैसे आत्मामें ज्ञान संयोगसे है या तादात्म्यसे ? संयोग तो होते हैं भिन्न भिन्न दो चीजोंमें और तादात्म्य होता है कि एक ही पदार्थके स्वरूपमें। जैसे अग्निका गर्मीसे तादात्म्य है, संयोग नहीं है और

चौकीका वस्तुसे संयोग है तादात्म्य नहीं। तो समवाय नामकी तीसरी और क्या चीज है? तादात्म्य कहेंगे तो तुम्हारे सिद्धान्तसे विरोध आयगा। जैसे आत्मामें सुख तादात्म्यरूपसे है। तादात्म्य उसे कहते हैं जो इस ही पदार्थका स्वरूप हो, सदा रहे।

तादात्म्यके प्रकारत्वकी सिद्धि—तादात्म्य दो तरहसे होता है। एक तो अनादि कालसे अनन्त काल तक सदा रहे उसका सम्बन्ध, एक अत्यन्त शाश्वत् तादात्म्य और एक वर्तमान काल तादात्म्य। जैसे आत्मामें क्रोधभाव जगा तो क्रोध आत्मा में संयोगसे तो है नहीं क्योंकि संयोग होता है दो पदार्थोंका। क्रोध नामका पदार्थ अलग हो, आत्मा अलग हो, ऐसी दो चीजें अलग तो हैं नहीं। क्रोध जुदी चीज है, जैसे चश्मा घड़ी वगैरह। इस प्रकार क्रोध कोई अन्य वस्तु हो और आत्मा अन्य पदार्थ हो ऐसा नहीं है, किन्तु कर्मोदयका निमित्त पाकर आत्मामें कर्मविकार जगा है वह है क्रोध। तो क्रोधका आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध है लेकिन आत्मामें सदा नहीं रहता इसलिये तादात्म्य होकर भी क्षणिक सम्बन्ध है और ज्ञान शक्तिका आत्मामें तादात्म्य होकर ध्रुव सम्बन्ध है। तादात्म्य दो प्रकारके हैं एक ध्रुव और एक क्षणिक। तो सुख जो है आत्मामें, तादात्म्यरूपसे है किन्तु क्षणिक है। कुछ समयको सुख हुआ उस के बाद दुःख हो सकता है। यदि वह सुख हुआ तो आत्मामें, आत्माका ही परिणमन हुआ, परन्तु सदाके लिये नहीं टिक सकता, तादात्म्य भी नहीं मान सकता सुखका और आत्मामें क्योंकि तुम्हारे मतसे आपदा है।

आत्माके आनन्दस्वभावका त्रिकालवर्तित्व—जैन दर्शन तो मानता है। यदि यह कहो कि आत्मामें सुख प्रकट हुआ, यह सुखकी आधेयता है तो भाई जैसे समस्त आत्मा न्यारे हैं ऐसे ही आकाश आदिक भी न्यारे हैं तो सुख आत्मामें ही प्रकट होता यह कैसे कहा जाय? हम कह दें कि आकाशमें प्रकट हुआ। तब सुख भिन्न चीज है, आत्मा भिन्न वस्तु है और आत्मा भी व्यापक है आकाश भी व्यापक है पर सुख आत्मामें ही प्रकट हुआ यह कैसे कहोगे कि आकाशमें प्रकट हुआ तो यह कहो कि भाग्यवश यह नियम है। जो सुख अपने भाग्यसे पैदा किया गया है वह सुख उस आत्माका है, और, दूसरोंका सुख तो जिनके भाग्यसे प्रकट हुआ वह सुख मेरा है यह भी कहना ठीक नहीं। भाग्य भी आत्माका है यह भी तो पहिले सिद्ध करो। भाग्य भी जुदा है। हर एक वस्तुका जिसमें जरा जरासा अन्तर दिखाई दे, तुरन्त भेदको मान ले उसके यहाँ तो कुछ भी सिद्धि नहीं है। आत्मामें ज्ञान है, सुख है, पर ज्ञानका जो स्वभाव है वह तो आत्मामें शाश्वत अभेद है और आनन्दका वह जो स्वभाव है वह भी आत्मामें सदाकाल रहता है।

विपरीत अभिप्राय ही क्लेशका हेतु—अब ज्ञान और आनन्द स्वभाव का परिणमन यह कोई समयपर होता है और फिर दूसरे क्षणमें दूसरा परिणमन होने लगता है। तो प्रत्येक पदार्थ अपने गुण पर्यायरूप रहते हैं, न गुण उससे अलग है, न

http://sahjanandvarnishastra.org/

पर्याय उससे अलग है, यों अदृष्ट भी तो तुम सिद्ध नहीं कर सकते। तब भेदवादका एकान्त लिया। यदि कहो कि जो अदृष्ट सुख दुःखको उत्पन्न करता है तो इससे इतरेतरा दोष होता है। इसके बाद यह समझमें आयगा कि सुख इस आत्माका है तब यह कह सकेंगे कि भाग्य इस आत्माका है। शायद यह कहो कि जिसको श्रद्धासे ग्रहण किया गया द्रव्य गुण कर जिस भाग्यको पैदा करे वह मेरा है तो उसमें भी वही दोष है, अत्यन्त भिन्न है तो यह दृष्टि अपने आत्माकी है यह भी कैसे सिद्ध कर सकते, तो प्रयोजन यह है कि जो बात हो तो सीधीसी उसे न मानकर अपनी दार्शनिकता छाँटनेके लिये लोकमें अपनेको कुछ विशिष्ट बतानेके लिये जो अनाप सनाप धारणा बना ली जाती है वे इस जीवको क्लेशके कारण है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं जगता तब तक जीव को शान्तिका मार्ग नहीं मिलता।

ज्ञानका कार्य जानन मात्र—अपने आपकी यथार्थ श्रद्धा करो। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञान मेरा स्वभाव है। जानना मेरा काम है। मैं हर समय जाननेमें तो स्वतंत्र हूं, जानना ही मेरा सही काम है। इसके आगे और कुछ मेरा काम नहीं है। मैं किसी पदार्थको करता नहीं, मैं किसी पदार्थको भोगता नहीं। फिर जब मेरा किसी पदार्थसे न कर्तृत्वका सम्बन्ध न भोक्तृत्वका सम्बन्ध ऐसे ही दूसरे जीव न उसे कुछ कर सकते न उसे कुछ भोग सकते, जब ऐसा परस्परमें अत्यन्त लगाव है, फिर सम्बन्ध मानना कि दुनियामें मेरा कहीं कुछ है यह मूढ़ताका परिणाम है कि नहीं? अथवा इस असार संसारमें इन मायामय जीवोंसे मनुष्योंसे अपनी प्रशंसा चाहना नाम चाहना बड़प्पन चाहना यह सब मूढ़ता है कि नहीं?

सर्वज्ञ वीतराग आनन्दमय, आत्मा—अरे सबसे निराला ज्ञानस्वरूप यह मैं हूँ। मैं ही अपना भविष्य बनाने वाला हूँ, अपनी सृष्टि करने वाला हूँ। भगवानका गुण तो इसलिये गाते हैं कि भगवान है शुद्ध पवित्र, उनके ज्ञानमें सारा विश्व ज्ञात है, रागद्वेष उनके रंच नहीं है, मोहका सर्वथा अभाव है, ऐसे पवित्र आत्मा हैं भगवान उन भगवानकी भक्तिमें हमें अपने आपके स्वरूपकी सुध होती है, ओह! ऐसे ही निर्दोष वीतराग सर्वज्ञ पवित्र आनन्दमय मेरा स्वरूप है। यह स्वरूप यदि ध्यानमें रहे तो इस जीवको कष्ट नहीं है।

आत्माके करने योग्य कार्य—जिन जीवोंका हम विकल्प करते हैं। जिन जीवोंसे हम प्रतीति और मोह करते हैं, परिस्थितिवश हो कुछ जाय लेकिन तथ्य यह है कि अपने स्वरूपसे चिगकर केवल वहाँ विकल्प ही किया जा रहा है। कुछ किया जा रहा है। कुछ किया नहीं जा रहा, कोई पुरुष दूसरोंसे स्नेह नहीं कर सकता, वह अपने आपके प्रदेशोंमें ही स्नेहका परिणाम बनाये रहता है। स्नेहका परिणाम बनाने पर भी उस जीवसे यह न्यारा ही है। प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अपना परिणमन कर रहे हैं। सभीके साथ भाग्य लगा है। सभी अपने अपने कर्मोदयके अनुसार सुख

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अथवा दु:ख पाते हैं। कोई किसीको सुख दु:ख देने वाला नहीं है। मोहवश इष्ट बुद्धि और अनिष्ट बुद्धि करके यह जीव अपने आपमें क्लेश मचाता है। दु:ख होता रहता है। अरे ज्ञाता दृष्टा रहो ना, जिसका जैसा भाग्य है जिसका जैसा परिणमन है उस का उसके अनुसार होता है। इस जगतमें करनेका काम क्या है? जो मेरे लिये लाभ करे, कुछ ठीक निर्णय तो करो। आज बड़ा पुण्यका उदय है, अच्छे घरानेमें उत्पन्न हुए, शासन उत्तम मिला, सत्संग मिला है, सारी बातें ठीक हैं, पर जरा अपने आपके बारेमें ऐसा तो विचार करो कि मेरे करने लायक इस जगतमें कौनसा काम है? जिसके कर लेनेसे फिर संतोष मिले, आनन्द मिले और यह विश्वास रहे कि अब भविष्यमें मैं इससे नीचेकी स्थितिमें न गिरूँगा।

धन वैभवकी वृद्धिकी चाह ही दु:खका हेतु – ऐसा कौन कार्य है सो बतावो? धन वैभवका संचय कर लेना यह तो लाभकारी कार्य नहीं है। धनके संचय होनेपर भी शान्ति तो नहीं मिलती। उसके कारण शान्ति मिलती हो तो बतावो? शान्तिका वह तरीका ही नहीं है। मोह लगा है इसलिए दु:खी भी होते जाते और सुख भी मानते जाते। जैसे तीखी चरफरी लाल मिर्च खाते जाते हैं, सी-सी करते जाते हैं, आँखोंसे आँसू भी गिरते जाते हैं फिर भी कहते हैं कि मुझे और चाहिए लाल मिर्च! ऐसे ही इस मोहके कारण दु:खी भी होते जाते और उसीमें सुख भी मानते जाते हैं। तो ऐसा एक नियन्त्रण बने, अपने आपको ऐसा संयत रखे कोई कि यह मैं आत्मा लो इतने ही स्वरूपमें तो हूँ. इससे वाहर मैं नहीं हूँ, बाहर जो कुछ हैं वे भी सब पूरे पूरे हैं। कोई अधूरा नहीं है। किसीसे कितना ही मोह करो उसको सुखी बनानेके लिए, पर भाग्यमें नहीं है तो कौन सुखी होनेका निमित्त बन सकेगा? यहाँ एक दृष्टान्त है। एक राजाका लड़का था, लेकिन पुण्य पल्ले न था। ज्यों ज्यों बड़ा होता गया, राज्यमें आपत्ति आने लगी। प्रजाने राजासे निवेदन किया। जबसे आपका पुत्र हुआ है तबसे राज्यभरमें विप्लव है, सब प्रजाजन हैरान हैं, तो उसे अलग कर दिया। किन्तु साथमें यह दु:खी न हो तो गाड़ीभर सामान और पैसा खजाना आदिक सब चीजें लदा दिया और देशसे बाहर निकाल दिया। लेकिन उसका उदय अनुकूल न था सो सारा धन आग बन गयी, अनाजके बोरोंमें छिद्र हो गया, सारा अनाज बिखर गया। पुण्योदय न हो तो कितना ही किसीके सुखी होनेका उपाय करले, सुखी नहीं हो सकता। सुखी होने वाला कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। उसका ही उदय हो तो सुखी हो सकता है। तो इस धन वैभवसे शान्ति नहीं प्राप्त होती है बल्कि जितना बढ़ावो उतनी ही अशान्ति बढ़ती जाती है और फिर यह उपाय नहीं करता कि देखो यह बढ़ गया धन इसलिए अशान्ति बढ़ गयी, अनर्थ बढ़ गया, तृष्णा बढ़ गयी। तो इस धन वैभवके परिमाण करलें कि हम इससे अधिक अपने पास न रखेंगे। इससे अधिक हो गया तो दान कर देंगे। यह कोई बड़ी बात नहीं।

परिग्रहके त्यागभावमें सुखकी उपलब्धि – पहिले समयमें अनेक बाद-

Version 1

शाह ऐसे भी हुए कि टोपी सीकर, खेत जोतकर या कुछ चीज बनाकर उससे जो आमदनी हुई उससे अपने परिवारका पेट भरते थे, लोग पूछते कि यह करोड़ोंका वैभव किस लिये है ? तो उनका उत्तर था कि यह सब वैभव प्रजाजनोंसे टैक्समें आया है सो यह सब धन प्रजाका है, इसको छूनेका हमें अधिकार नहीं है। ऐसे भी राजा हुए हैं। क्या गृहस्थजन इतना नहीं कर सकते कि जितनेमें खूब मौजसे जिन्दगी व्यतीत हो रही है उतनेका परिमाण बना लें, उससे आगे जो कुछ बढ़े उसका दान करें ? क्या कोई भूखे मर रहे हैं, क्या किसीके रोटियोंकी कमी है, मगर धुन एक ऐसी बन गयी है कि मैं धनका अधिकाधिक संचय करलूं। इस धन वैभवका संचय किस लिये किया जा रहा है ? इसीलिये कि लोकमें मेरी इज्जत बने, मैं धनी कहलाऊं। यही तो धन संचयका उद्देश्य है, पेट पालनेका कोई उद्देश्य नहीं हैं। तो आप देख लीजिए कि परिग्रहका परिमाण कर लेनेपर जो अधिक आये वह दानमें लगे, परोपकारमें लगे तो उससे इज्जत है कई गुना या नहीं ? चार लाख वाला पुरुष यदि ८ लाख वाला धनी हो जाय तो उसकी उतनी इज्जत न बढ़ेगी जितनी कि ८ लाखका दान कर देने वालेकी बढ़ेगी, पर मोह भाव ऐसा है कि जो यथार्थ मार्ग है, उस ओर बुद्धि नहीं जाती। लेकिन यह तथ्यकी बात है कि जब तक परिग्रहका परिमाण न कर लिया जाय तब तक नहीं होता कहीं तो अटकाव होना चाहिए। क्या जीवन भर धन संचयके स्वप्न निरखकर ही समय बिताना है ? तो धन वैभवसे भी शान्ति नहीं मिलती।

शान्ति मार्गकी प्राप्ति किसको ?—परिवारजनोंसे भी शान्ति नहीं मिलती। अरे परिजनके लोग अच्छे होंगे, आज्ञाकारी होंगे तो उनके सुखी करनेके लिये कष्ट करना पड़ेगा। परिवारके लोग यदि बुरे होंगे, प्रतिकूल होंगे तो उनका ख्याल कर करके दुःखी होंगे तो परिजनोंसे भी आत्माको शान्ति नहीं मिलती तो फिर इज्जत, लौकिक नेतागिरी आदिक बन गई तो वहाँ भी शान्ति नहीं मिलती। क्योंकि ऐसी स्थितिमें तो पराधीनता बहुत होती है। जो लोग इज्जत चाहते हैं, नेतागिरी पराधीनतायें हैं। वे हर एकके दिलको प्रसन्न करना चाहते, हर एकसे वोट लेनेकी याचना करें। किस बातकी वहाँ शान्ति हैं। इसपर विचार तो करलो, कहीं अन्यत्र शान्ति न मिलेगी। एक दृष्टिसे यदि ऐसा भी कह लो तो अच्छा है कि दुनियामें बेवकूफ सा बन कर रहे तो उसे शान्ति मिल सकेगी। बेवकूफ बनना तो मिथ्यात्व है पर ऐसा बेवकूफ कि कोई हमें जान नहीं रहा, किसीसे हमारा कुछ ताल्लुक नहीं, किसीसे कुछ चाहें नहीं किसीमें हम अपनी चतुराई न छाटें, कहीं दखल न दें ऐसे भोले सरल अपने आत्मासे प्रयोजन रखकर रहे तो उसे शान्तिका मार्ग मिलता है, इसका मतलब यह न होगा कि खुदके विषय साधनोंके जोड़नेमें तो चतुर रहें और दूसरोंका उपकार न कर सकें, अपने लिये भी न चाहें, परके लिये भी न चाहें, ऐसे समता परिणाम वाले बनकर जीवन बितायें कोई तो वह शान्तिका साक्षात् मार्ग है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

लेकिन बुद्धिपूर्वक शान्तिका उपाय तो करना ही होगा। वह उपाय है निजको निज परको पर जान।

मोहरूप परिणमन ही दुःख - यथार्थ समझ कर लो, उप आत्मामें अन्तर्दृष्टि डालकर निहारो, केवल यह मैं ज्ञानमात्र हूँ, रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हूँ, इसे कोई पकड़ नहीं सकता। छेद भेद नहीं सकता। केवल ज्ञानानन्द स्वरूपमात्र हूँ। इससे बाहर कहीं मेरा नाता नहीं। किसीसे भी सम्बन्ध नहीं। यह जैसे परिणाम बनाता है वैसे ही अपनेको भोगता रहता है। इस जीवको व्याकुल करने वाला केवल मोह परिणाम हैं। इस जगतमें सबसे अधिक गंदी चीज मोह है। आप बतावेंगे कि यह नालियोंमें जो गंदगी बहा करती है मल-मूत्र वगैरह अथवा मांस आदिक ये चीजें गंदी हैं पर जरा सोचो तो सही कि ये चीजें कैसे बनी हैं? यदि मोह न होता तो ये सब चीजें कैसे बनतीं? तो मूलमें यह मोह सबसे गंदी चीज रही। तो शरीर बननेका भी आधार क्या, कारण क्या? मोही जीव। मोही जीवोंका सम्बन्ध न हो तो शरीर कैसे? जीव आये बिना कोई शरीर बन सकता है क्या? चाहे पृथ्वी हो, जल हो, अग्नि हो, वायु हो, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय हों, कोई भी काय हो, जीवके आये बिना शरीर तो नहीं बन सकता। तो शरीर बननेका कारण क्या हैं? जीवोंका सम्बन्ध नहीं किन्तु मोही जीवोंका सम्बन्ध। मोही जीवोंमें भी जीव बहुत नहीं। जीवका स्वरूप तो जो प्रभुका है, जो सबका है सो अपना है, किन्तु उस जीवमें जो मोहभाव लगा है, अज्ञानभाव है, शरीरको अपनानेका भाव है, जिस भाव के कारण शरीर मिलते जाते हैं। तो गंदा हुआ मूलमें यह मोह भाव कारणका कारण खोजते जायें गंदा वह कहलायेगा।

मोह भाव ही जीवमें गन्दगीका उत्पादक—जैसे किसीका पैर मैलसे भिड़ गया तो जो भी उसे छू लेगा वह अस्पर्श हो गया, उसे जो छुवे वह अस्पर्श हो गया, यों जितने भी लोग छूते जायेंगे वे सब अस्पर्श हो गए, पर जरा सोचो तो सही कि मूलमें अस्पर्श कौन है? अस्पर्श तो मूलमें वही है जिसका पैर मलमें भिड़ गया। ऐसे ही यहाँ भी विचार करें, नाली खराब है, मल मूल मांस आदिक खराब क्या है? मोह। तो सबसे अधिक गंदा मोह परिणाम हुआ। इस मोह विडम्बनासे बचनेकी बात कर लें सो भला है। ज्ञान दृष्टि शुद्ध बना लें। तो यहाँ उस ही ज्ञानकी चर्चा है कि यह ज्ञान स्वका भी प्रकाश करता है और परका भी प्रकाश करता है, ऐसा ज्ञान मात्र अपने आपको समझ लेना चाहिए।

विश्वके अन्य पदार्थोंका जानने वाला ज्ञान अपना भी ज्ञाता— आत्मा में जो सुख आदिक भाव होते हैं वे इस भोगने वाले आत्मासे प्रत्यक्ष रहते हैं अर्थात् अनुभवमें आते हैं। सुख दुःख अनुभवमें न आये तो सुख दुःखका प्रभाव क्या? जैसे सुख और दुःखका परिज्ञान करनेके लिये हमें अन्य ज्ञान बनानेकी जरूरत नहीं रहती

है इस ही प्रकार किसी भी ज्ञानको जाननेके लिये हमें अन्य ज्ञान बनानेकी जरूरत नहीं रहती। जैसे कि मैंने घड़ जाना है तो फिर जो मैंने घड़ाका ज्ञान किया है ऐसा समझनेके लिये हमें नया ज्ञान बनानेकी आवश्यकता नहीं होती किन्तु वही ज्ञान अपनेको भी जानता है और परपदार्थोंको भी जानता है। जो लोग ऐसा पक्ष करते हैं कि ज्ञान तो दूसरेके ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है जहाँ यह खुद अपने आपको नहीं जान सकता इसी प्रकार इन घट पट चौकी आदिक पदार्थोंको हमने जिस ज्ञानसे जाना है वह ज्ञान भी किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जा सकेगा। खुद वही ज्ञान अपने आपको नहीं जान सकता, क्योंकि ज्ञान भी प्रमेय है, पदार्थ तत्त्व है, ज्ञानके योग्य है ऐसा कहना युक्त नहीं है कि तुम्हारे इस कथनमें दोष आता है। क्या तुम्हारा जो यह कहना है कि जो भी ज्ञान होता है वह ज्ञान किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो सुख हुआ और उसका हमें ज्ञान हुआ, मगर सुखका ज्ञान किसी ज्ञानके द्वारा जाना जाता अथवा परमात्माका ज्ञान, ईश्वरका ज्ञान समस्त विश्वको जानता है और वही ज्ञान अपने ज्ञानको भी जानता है।

ज्ञानको स्वयंका ज्ञाता न माननेपर अनवस्था दोष – तुम्हारे यहाँ कहा कि ज्ञान खुद अपने आपको नहीं जान सकता। लेकिन महेश्वरका ज्ञान तो अपने आप को भी जान गया और विश्वके पदार्थोंको भी जान गया। तब तुम्हारा यह कहना युक्त नहीं है। वह प्रमेय है फिर भी अन्य ज्ञानोंके द्वारा नहीं जाना जाता और मैंने अपने ज्ञानको किसी दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना तो फिर अनवस्था हो जायगा। वह दूसरा ज्ञान फिर तीसरे ज्ञानके द्वारा समझा जायगा, तीसरा ज्ञान चौथेसे, यों व्यवस्था न रहेगी। यहाँ बात यह सिद्ध की जा रही है कि जो हम आप लोगोंको ज्ञान बनता है किसी पदार्थको जाननेके लिए तो वह ज्ञान खुद अपने आपको समझ लेता है कि मैं हूँ, सही हूँ, ठीक जान रहे हैं। उस ज्ञानको जाननेके लिए दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती है। लेकिन जो दर्शन इस सिद्धान्तका विरोध करते हैं उनको यह आपत्ति दी गई है कि यदि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाय क्योंकि प्रमेय होनेसे, तो इस अनुमानसे ईश्वरके ज्ञानमें बाधा आती है अर्थात् ईश्वरका ज्ञान पदार्थको भी जानता है।

एक ज्ञेयको विषय करने वाले ज्ञानमें अन्य ज्ञेयोंके जाननेमें सामर्थ्य– इस प्रसङ्गमें शङ्काकार अपना बचाव कर रहा है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है और इसमें महेश्वरके ज्ञानका व्यभिचार भी नहीं होता। अनवस्था भी नहीं आता, क्योंकि हम ईश्वरमें हमेशा दो ज्ञान मानते हैं। यहाँ शङ्काकार कह रहा है एक ज्ञानसे तो संसारके पदार्थोंको जानते और दूसरे ज्ञानसे ज्ञानको जानते। जैसे किसी जगह पास-पास दो दीपक हैं, दो लौ बनाये गए हैं तो एक लौ तो समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता और एक लौ उस लौको। ऐसे ही ईश्वरमें दो ज्ञान रहते हैं। एक ज्ञान संसारके पदार्थोंको जानता है और एक ज्ञान ज्ञानको। यह बात कुछ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सङ्गत प्रतीत नहीं होती। तथ्य तो यह है कि ईश्वरका ज्ञान एक ही है और उस ज्ञान में स्वपर प्रकाशकताका स्वभाव पड़ा है। शङ्काकार कह रहा है कि ईश्वरमें नित्य दो ज्ञान रहते हैं —एक ज्ञानसे तो समस्त पदार्थोंको जानते और एक ज्ञान ज्ञानको ही जानता रहता है। अब तीसरे ज्ञानकी कोई जरूरत नहीं। सही-सही बात तो दो ज्ञानोंसे ही बन जाती है, फिर तृतीय ज्ञान माननेकी जरूरत नहीं। अतः अनवस्था दोष नहीं आता, यह कहना भी ठीक नहीं है।

पूरे द्रव्यमें समान जातीय दो गुणोंकी अनुपलब्धि—समान कालमें, पूरे द्रव्यमें सजातीय दो गुण नहीं हुआ करते। जैसे कोई एक पदार्थ ले लो—एक आमफल, लेकिन उस आमफलमें एक ही समयमें पूरे आममें २ रङ्ग नहीं रह सकते — हरा भी रङ्ग रहे और लाल भी रहे। हां आगे पीछे रह जाय। पहिले हरा है, पीछे लाल हो गया या किसी अंशमें लाल हो किसी अंशमें हरा हो, पर एक ही समयमें पूरे द्रव्यमें सजातीय दो गुण नहीं रहते। सजातीय शब्द इसलिए बोला है कि आममें रूप और रस जुदी जुदी जातिके गुण हैं, पर रूपके ही जो भेद हैं काला, पीला, नीला आदिक ये एक साथ नहीं रह सकते। रह भी सके मगर पूरे फलमें नहीं रह सकता। तो एक ही समयमें पूरे द्रव्यमें समान जातिके दो गुण कभी नहीं ठहर सकते। यहाँ एक ही ईश्वरमें, पूरे उस आत्माके सजातीयता इसका ज्ञान मान लिया। एक ज्ञान तो पदार्थके समूहको जानता है और दूसरा ज्ञान पदार्थ समूहके जानने वाले ज्ञानको जानता है। तो वे दोनों ही ज्ञान सजातीय हैं। तो सजातीय दो ज्ञान एक साथ एक द्रव्यमें पूरेमें एक समय नहीं होता। तो ईश्वरमें दो ज्ञान नहीं हैं। ज्ञान एक ही है और वह ईश्वर उस एक ही ज्ञानसे सारे पदार्थसमूहको जानता है और खुदके स्वरूपको भी जानता है। यही बात हम आप लोगोंकी है। हम आप किसी पदार्थको जानते हैं कि लो यह चटाई है, उसी ज्ञानसे तुरन्त यह निर्णय करलें कि हमारा ज्ञान सही है। दूसरा ज्ञान नहीं करना पड़ता कि जो मैंने जाना है कि यह चटाई है यह ज्ञान सही है या नहीं? पदार्थको जानते ही ज्ञानमें दो स्वभाव आ गए। पदार्थको जाना और अपने आपको भी जाना। तो ईश्वरमें भी एक ही ज्ञान है, वह जिससे सारे विश्वको जानता और खुद अपने स्वरूपको भी जानता है।

ईश्वरमें एक ही ज्ञान गुणकी संभवता—तो ईश्वरमें दो ज्ञान एक साथ सम्भव नहीं है। मान लो ईश्वरमें दो ज्ञान सही है तो यह बतलावो कि वह दूसरा ज्ञान जिस ज्ञानने पहिले ज्ञानको जाना वह दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष है या परोक्ष? यदि प्रत्यक्ष नहीं है, वह स्वयं भानमें नहीं आता तो अप्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञानकी प्रत्यक्षता नहीं बन सकती। यदि अप्रत्यक्ष ज्ञानसे जो ज्ञान हमारे भानमें न आये उस ज्ञानसे हम इस ज्ञानको जान जायें तो पहिले ज्ञानसे हम पहिले ज्ञानको क्यों न जान जायें? उससे ही हमारे पदार्थका प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाता? इससे चाहे ईश्वरका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ज्ञान देख लो चाहे अपना ज्ञान देख लो दोनोंके ज्ञानोंमें एक समान स्वभाव पड़ा है। यदि ईश्वरमें दो ज्ञान माने जायें तो पूछा जा रहा है कि दूसरा ज्ञान उसे अप्रत्यक्ष है या प्रत्यक्ष। यदि प्रत्यक्ष मानते हो तो अपने आपसे ही प्रत्यक्ष बन गया या किसी अन्य ज्ञानसे बना? यदि अपने आप बना तो पहिला ज्ञान भी अपने आप प्रत्यक्ष होने लगा। दूसरे ज्ञानसे बना तो अनवस्था दोष है। यदि पहिले ज्ञानसे दूसरा ज्ञान प्रत्यक्ष हो, दूसरे ज्ञानसे पहिला ज्ञान प्रत्यक्ष हो तो यह इतरेतराश्रय दोष हो गया पहिला ज्ञान प्रत्यक्ष बने तो दूसरा ज्ञान जान जाय। दूसरा ज्ञान जान जाय तो पहिला ज्ञान जान जाय यों विषमवाद मत मानो।

आत्माकी अखण्डता एवं ज्ञानस्वरूपता—पदार्थका जैसा स्वरूप है वैसा समझो! आत्मा ज्ञानस्वरूप है, और ज्ञानका ऐसा स्वरूप है कि वह पदार्थको भी जाने और खुदको भी जाने, अर्थात् ज्ञान स्वपरव्यवसायी हुआ करता है। प्रत्येक आत्मा एक एक है। और, एक उसे कहते हैं जो अखण्ड हो, एक का टुकड़ा नहीं हुआ करता है। तो हम आप सबका आत्मा यद्यपि विस्तृतरूप हो रहा है और है भी। जितना बड़ा हमारा शरीर है उतने ही बड़े आकारमें हमारा आत्मा है। देहाकार है आत्मा, लेकिन जैसे देहके टुकड़े किये जा सकते हैं ऐसे इस आत्माके टुकड़े नहीं किये जा सकते। अतएव आत्मा एक है, शरीर एक नहीं है। इस शरीरमें ऐसे अनन्त परमाणु हैं, पदार्थ हैं। आत्मा एक है, यह प्रत्येक आत्माकी बात कही जा रही है। आत्मा अखण्ड है और ज्ञानस्वरूप है। तो जितने फैलावमें आत्मा है उतने ही फैलावमें ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा जुदे नहीं है, इसलिये जो ज्ञान आत्माके एक प्रदेशमें है वही ज्ञान आत्माके दूसरे प्रदेशमें है। इसका दृष्टान्त बाहरमें यों नहीं मिलता कि जितने अखण्ड पदार्थ हैं वे आँखों नहीं दिखते। न तो आत्मा आँखों दिखता, और पुद्गलमें एक एक पदार्थ हैं परमाणु सो परमाणु आँखों दिखते। धर्म, अधर्म आकाश द्रव्य न वे आँखों दिखते। काल द्रव्य असंख्यात हैं, एक एक प्रदेशपर एक एक कालद्रव्य है सो न कालद्रव्य दिखता अतः दृष्टान्त क्या दें? यह तो अनुभवसे ही जाना जा सकता है। मैं आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ यह आत्मा स्वपर प्रकाशक है। यों आत्माको स्वपरव्यवसायी मानें, ज्ञानको स्वपरनिर्णायक मानों वह ज्ञान प्रमाण है।

किसी भी आत्मामें दो ज्ञान गुणोंकी अनुपलब्धि— यहाँ शङ्काकार ईश्वर में दो ज्ञान मान रहा है, एक ज्ञानसे तो पदार्थ जाने जा रहे हैं और दूसरे ज्ञानसे ज्ञानको जाना जा रहा है कि तुम्हारे ईश्वरके वे दोनों ज्ञान ईश्वरसे अत्यन्त भिन्न हैं तो ये ईश्वरके ज्ञान हैं यह कैसे सिद्ध होगा? यह दार्शनिक सब चीजोंको भिन्न भिन्न मानता है। ज्ञान जुदा है, आत्मा जुदा है, फिर ज्ञानका आत्मामें सम्बन्ध जोड़ा तब आत्माने जाना। जैसे कि साधारण रूपसे बिना विवेकके ऐसा लगता है कि जो ज्ञान हममें पैदा हुआ वह ज्ञान नष्ट हो गया, अब इसमें दूसरा ज्ञान आया। अरे आया कहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

से ? किसी दूसरी जगहसे ? हाँ ऐसा मान रहा है कि दूसरी जगहसे आया। तब भिन्न भिन्न हो गए ना, इस ढङ्गसे वह दर्शन भिन्न भिन्न मानता है। ईश्वर निराकार चैतन्यस्वरूप है और उसमें ज्ञान जुड़ा है, सम्बन्ध होता है ज्ञानका तब वह ज्ञानको जानता है। यदि ईश्वरसे वे दोनों ज्ञान भिन्न है तो वे ईश्वरके हैं यह कैसे सिद्ध होगा ? समवाय सम्बन्ध भी नहीं बनता, आधार आधेय भी नहीं बनता, फिर यह सिद्ध नहीं कर सकते कि यह ज्ञान इस ईश्वरमें है। यह ज्ञान इस ईश्वरका है। और, फिर एक बिढंगी बात देखो कि अपना ज्ञान जब अपने आपको भी नहीं जान सकता तो बाहरमें रहने वाले पदार्थोंको जान ले, इसपर कौन विश्वास करेगा ? जो दीपक स्वुद प्रकाश मान नहीं है वह दीपक परपदार्थको प्रकाशित कर दे इसे कौन मान लेगा ? इससे सीधी बात मानना कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वह अपना भी प्रकाश करता है और दूसरेका भी प्रकाश करता है।

आत्माके जगमगस्वरूपकी स्वसंवेद्यता— जब अपने आपके स्वरूपपर दृष्टि पहुंचती है तब यह स्वयं अनुभव करता है— ओह ! यह ज्योतिर्मय मैं हूँ। यही मेरा शरण है, मेरी दुनिया है, मेरी समृद्धि है। इससे बाहर कहीं भी कुछ मेरा नहीं है कल्पनामें कुछ भी मानते जावें, किसी भी वस्तुसे मोह करें, नाता मानें, पर इस मुझ आत्माका अन्यत्र कहीं कुछ नहीं है। ऐसा यह ज्ञानस्वरूप आत्मा जो स्वयं जगमगरूप है वह मैं हूँ। आत्माका स्वरूप जगमगरूप है। जगमगको लोग बड़े समारोहमें सामिल करते हैं। कहीं सभा सोसाइटीमें खूब बिजली वगैरहसे सजाया गया हो और वह बिजली केवल जग ही जग रहे, उजला ही उजेला निरन्तर रहे तो उससे शोभा नहीं बढ़ती। शोभा बढ़ती है जगमगसे अर्थात् बिजलीके जलने और बुझकर तुरन्त जलनेसे अथवा अपने प्रकाशमें समाकर प्रकाशित होनेसे। जब बिजली जल रही हो और बुझ रही हो तो लगता है कि कोई नकशा सा बनाया जा रहा है। तो जैसे उस बिजलीके सजावटकी शोभा है जगमगसे, ऐसे ही इस आत्माका निरन्तर जगमगस्वरूप है। अन्तर इतना है कि यहाँ मगका अर्थ बुझना नहीं किन्तु आनन्द स्वरूपमें समाना है। जगसे तो जाना और मगसे मग्न हुआ, आनन्द पाया। मगसे आनन्द मिलता है जगसे जानकारी मिलती है। आत्मा ज्ञानानन्द स्वरूप है इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा जगमग स्वरूप है। केवल जगसे भी प्रयोजन नहीं बना और केवल मगसे भी प्रयोजन नहीं बना। आत्मामें विशुद्ध आनन्द है तो उसके ज्ञानका भी महत्त्व है। आत्मामें विशुद्ध ज्ञान है तो उसके आनन्दका भी शुद्ध विलास है। यों आत्मा जगमग स्वरूप होता है। यदि कोई पूछे कि आत्माकी खास विशेषता क्या है ? तो यह जगमगस्वरूपता, ज्ञानानन्द स्वरूपता।

आत्मामें ज्ञान और आनन्दकी अविनाभाविता— किन्हीं दर्शनोंने इसी आधारपर सिद्धान्त अलग अलग मान लिया। कोई कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप

http://sahjanandvarnishastra.org/

है, कोई कहते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप है। ये भिन्न भिन्न सिद्धान्त हैं एक ब्रह्म-वाद यह कहता है कि ब्रह्मका स्वरूप आनन्द है तो एक ब्रह्मवाद वह कहता है कि ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है, ज्ञानस्वरूप है। देखिये--आत्मा एक स्वभाव वाला है। ब्रह्म भी एक रूप है जगमगको लिये हुए होता है। ज्ञानानन्दस्वरूपको लिये हुए होता है किसी दार्शनिकने इस ज्ञानानन्दस्वरूप आत्माको एक ज्ञानकी प्रमुखतासे देखा, किसीने आनन्दकी प्रधानतासे देखा कि मैं आनन्द स्वरूप परमात्मा हूँ, किन्तु विचारो तो सही कि ज्ञान न हो तो आनन्दका स्वरूप क्या होगा ? आनन्द न हो तो ज्ञानका रूप क्या, जैसे यह चौकी है इसमें आनन्द नहीं है क्योंकि ज्ञान नहीं है। जिस पदार्थमें ज्ञान नहीं उस पदार्थमें आनन्द भी नहीं जिस पदार्थमें आनन्द नहीं उस पदार्थमें ज्ञान भी नहीं। ये दोनों तो आत्माके अभिन्न स्वरूप हैं। ज्ञान आनन्द। अब इन दोनोंपर कर्मोंका उपाधिका आवरण लगा हुआ है जिस आवरणके कारण आत्मा अपने ज्ञानका पूरा विलास नहीं पाता। मूलमें इस आत्माका स्वरूप जगमग मानना पड़ेगा।

सहज जगमगस्वरूप आत्माकी उपासनामें हितकी उपलब्धि- ऐसे जगमगस्वरूप आत्माके विशुद्ध स्वरूपको हम अपने ज्ञानके द्वारा यदि ज्ञात कर लें, अनुभव करलें तो इस हं. हमारे पुरुषार्थका यह प्रसाद होगा कि आकुलतायें दूर होंगी। ज्ञानानन्द स्वरूपका विकास होगा। अपने आपका उद्धार करनेमें हम ही स्वयं समर्थ हैं। प्रभुके स्वरूपका स्मरण हमारा सहारा है। प्रभुका सहारा नहीं है। किन्तु प्रभुके गुणोंका स्मरण सहारा है। देखिये वहाँ पर भी सहारा मिला अपने आपका प्रभुके गुणोंका जो स्मरण किया वह स्मरण पर चीज है ? प्रभुके गुण प्रभुके हैं, उनसे मुझे कुछ सहारा नहीं मिलता। हम प्रभुके गुणोंका स्मरण करेंगे तो वह स्मरण हमारी चीज है। उस प्रभुकेस्मरणमें ही यह सामर्थ्य हैं कि हमारे भव भवके कर्म कलंक दूर होते हैं। तो हमारे लिये शरण हम अपने आप है। हम प्रभुके गुणोंके स्मरणका सहारा लें और अपने आपमें शाश्वत विराजमान ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव करें, यही एक कल्याणके लिये करने योग्य काम है।

ज्ञानको स्वसंविदित न माननेपर अनिष्ठापत्तिका प्रसङ्ग—ज्ञान एक ऐसा भाव है जिसके होनेका, बननेका ढङ्ग ही यह है कि अपने आपको जानता रहे और परपदार्थोंको जानता रहे। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है, किन्तु इसके विरोधमें कहने वाले दार्शनिक यह सिद्ध कर रहे हैं कि ज्ञान खुद अपने ही ज्ञानके द्वारा नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञानको जाननेके लिए नया ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है। साथ ही ये दार्शनिक यह भी मानते हैं कि विज्ञान आत्माका स्वरूप नहीं है, स्वभाव नहीं है, किंतु प्रकृतिका विकार है याने अलगसे एक पदार्थ है ज्ञान। ज्ञानका उस आत्मामें सम्बन्ध जुड़ता है तब आत्मा ज्ञानी कहलाता है। इन दोनों शङ्काकारके भावोंको निरखकर आचार्यदेव कह रहे हैं कि यदि ज्ञान भिन्न है, आत्मा भिन्न है, चाहे वह ईश्वर हो

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चाहे वह संसारी हो। ईश्वरके भी आत्मासे ज्ञान भिन्न है तो प्रथम तो यह निर्णय उनको सिद्ध करना कठिन होगा कि यह ज्ञान ईश्वरका है और फिर मान लो ईश्वर का ज्ञान ईश्वरमें समवेत है तो भी ईश्वरका ज्ञान अप्रत्यक्ष, अविशद रहा, क्योंकि सारे ज्ञान खुदको नहीं जाना करते किन्तु ज्ञानको जाननेके लिए किसी नये ज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है। तो ईश्वरका भी ज्ञान अप्रत्यक्ष रह गया। ज्ञान खुदको न जान सके तो सर्वज्ञ कहाँ रहा ? फिर जिस ज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ सबको जानते हैं वह ज्ञान भी स्पष्ट नहीं रहा। खुद खुदको न पहिचान सका तो फिर इस प्रकारसे तो समस्त पदार्थोंमें ही प्रत्यक्षका विरोध होगा। जो ज्ञान खुदको नहीं समझ सकता उस ज्ञानके द्वारा अन्य पदार्थोंका जानना नहीं बन सकता। जो दीपक खुद अंधेरेमें हो उस दीपकके द्वारा पर पदार्थ प्रकाशमें नहीं आ सकते, ऐसे ही जो ज्ञान खुदको न समझता हो उस ज्ञानके द्वारा परपदार्थ ज्ञात नहीं किए जा सकते। यदि भिन्न ज्ञानके द्वारा पदार्थोंका प्रतिभास होने लगे तो सारे ज्ञान इस दार्शनिकने आत्मासे भिन्न माने। तो जिस चाहे ज्ञानसे जो चाहे आत्मा जानने लगेगा, अथवा ईश्वरके ही ज्ञानसे प्रत्येक आत्मा जानने लगेगा। यदि हम आप ईश्वरके ज्ञानको जानने लगें तो सर्वज्ञ ही बन गए फिर तो यह ईश्वर है यह अनीश्वर है, यह संसारी है, यह प्रभु है यह बात नहीं बन सकती। इस कारण ईश्वर और संसारीमें यदि विवेक मानते हो तो यह मानना होगा कि प्रत्येक आत्मा ज्ञानस्वरूप है और जिस आत्माका ज्ञान पूर्ण विकसित है वह तो ईश्वर है और जिस आत्माका ज्ञान अपूर्ण है, विकसित नहीं है, कम है वह है संसारी। तो मानो कि ज्ञान स्वपरप्रकाशात्मक है।

स्वसंविद ज्ञानकी आस्थामें हितलाभ भैया ! खुद ही परखलो हम कुछ भी जानते हैं तो जाननेके साथ हम अपने आपमें विश्वास भी बनाये रहते हैं—हम जान रहे हैं, ठीक जान रहे हैं। ज्ञान स्वयं यदि अंधेरेमें है तो बाह्य पदार्थ प्रकाशमें नहीं आ सकते। देखिये ! यह अपने आपके ज्ञान वैभवकी चर्चा चल रही है। हम आपका यह ज्ञान वैभव कितना समृद्ध है, उसकी कुछ खबर नहीं रखनेसे कंकड़ पत्थर लोहा चाँदी सोना कागज आदिक अत्यन्त भिन्न अचेतन पदार्थोंमें समृद्धिकी कल्पना करते हैं, पर इस आत्माको शान्ति इन बाह्य समृद्धियोंके कारण नहीं मिल सकती, शान्ति तो अपने आपके ज्ञान समृद्धिसे ही प्राप्त होगी। खुद ही खुदके लिए सब कुछ है। खुदके सिवाय अन्य कुछ परमाणु मात्र भी इस खुदके लिए कुछ नहीं है। यह निर्णय बने तब उसकी गिनती मोक्षमार्गियोंमें बनेगी, अपने आपको टटोल लीजिये कि यह निर्णय हममें बसा हुआ है या नहीं ? यह मैं आत्मा अपने ही प्रदेशोंमें हूँ, अन्य बाहरी क्षेत्रोंसे इसमें कोई स्वरूप नहीं आता। बाह्य पदार्थोंसे इस ज्ञानका कुछ संबंध नहीं है। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ ऐसा निर्णय बने तो मोहकी गाँट हल्की हो अथवा टूटे। जब तक मोहकी ग्रन्थि टूटती नहीं है तब तक यह जीव विकार भावोंको अपनाता है शान्तिका उपाय प्राप्त करनेके लिए ही तो हम मंदिर जाते, पूजन करते, सत्सङ्ग करते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इन सर्व उद्यमोंसे यह शिक्षा ग्रहण करें कि मेरे लिए मेरा आत्मा ही सर्वस्व है, उसको छोड़कर अन्य कोई पदार्थ परमाणुमात्र भी मेरे लिए कुछ नहीं है। यह आत्माका निर्णय बने तो आत्माका भला हो। अन्यथा इस आत्मदेवपर जो शरीरका बोझ लदा हुआ है वह लदा ही रहेगा। कुछ गम्भीरतासे अपने आपके निकट रहकर आत्महित का निर्णय करना चाहिए। दुनिया क्या कहती है, क्या कहती है उसको देखकर अपना प्रोग्राम बनाना मूढ़ता है। क्योंकि प्रायः सारी दुनिया मूढ़ है, मोह-ग्रस्त है। इन अज्ञानी जीवोंकी सम्मतियाँ जीवके हितके लिए न बनेंगी। खुद मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। यदि अज्ञानको न आनाऊँ तो खुद ही मैं निर्णय कर सकता हूँ कि वास्तवमें तथ्य क्या है? और हमको किस मार्गसे चलना चाहिए? मोहमें फँसना तो केवल विडम्बनाओं को बढ़ानेवाली बात है। अनादिकालसे यही तो करते आये हैं।

स्वरूपभावनामें अप्रमादी रहनेका अनुरोध—अपने आपके स्वरूपके निकट रहनेका उत्साह बनायें। यदि इस बातपर दृष्टि नहीं देते तो जैसी भटकना अभी तक चली आ रही है वह चलती रहेगी। दिलको मजबूत बनायें। उपयोगमें यह दृढ़ निश्चय करलें कि मेरे आत्माका मेरे स्वरूपके सिवाय अन्य कुछ नहीं है। जो बात जैसी है तैसी संतोंने कही है। हटकर तो कुछ मिल सकता है पर लगकर इन पदार्थोंसे कुछ नहीं मिल सकता। किसीसे कोई वस्तु लेना है तो आप यदि उसके पास लेने जाते हैं तो खुद गर्ज समझकर आपको वह चीज मंहगी देगा आप ठग जाते हैं और यदि वह खुद आपके पास आकर कहे कि आप इसे खरीद लीजिये तो आपको वह चीज सस्ती पड़ जाती है, उसमें आपको लाभ हो जाता है। यह फल भी गरज और उपेक्षासे मिल रहा है। ग्राहक अगर उपेक्षासे बात करे तो वह लाभमें रहता है और यदि लगकर बात करे तो हानिमें रहता है। यह एक मोटी बात कही है। ये संसारके प्राणी बाह्य पदार्थोंमें लगकर अपना जीवन बितायें तो अच्छी जिन्दगी नहीं बीतती और यदि इन पदार्थोंमें उपेक्षा भाव रखकर जिन्दगी बितायें तो अच्छी जिंदगी बीतती है। बाह्य पदार्थ तो इस आत्मासे अत्यन्त भिन्न हैं, कोई भी पदार्थ किसीके आधीन नहीं है। अतएव सबसे न्यारा अपने आपको निरख कर अपने ही स्वरूपमें मग्न होनेका भाव करें तो उसमें पराधीनताका कोई काम नहीं है। खुद खुदको निहार रहे हैं और सुखी हो रहे हैं। भगवान और कर क्या रहे हैं जिनकी हम आप रोज पूजा करने आते हैं?

प्रभु-पूजामें भक्तकी उत्सुकता—भक्तोंमें प्रभुपूजाके बारेमें ऐसी आदत बन जाती कि जिस दिन प्रभुके दर्शन करने न आ सकें उस दिन ऐसा लगता है कि कुछ गुमसा गया है। जिस भगवानको हम आप पूजने आते हैं वे कहाँ रहते हैं उनका काम क्या है, उनसे सम्बन्ध बनानेसे हमें लाभ क्या होगा इसका निर्णय तो होना चाहिए। लोक व्यवहारमें जिससे मित्रता बनती है उसके सम्बन्धमें इतना तो ज्ञात

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

होता ही है कि यह कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है, इसकी मित्रतासे हमको क्या लाभ हो सकता है ? चाहे विस्तारसे न कहें फिर भी यह निर्णय बराबर रहता है ऐसे ही प्रभुके बारेमें जान तो लीजिये कि यह कौन हैं, इनका नाम क्या है, यह कहाँ रहते हैं, क्या काम करते हैं और यह कभी हमारे काम भी आ सकते हैं क्या ? ये कौन हैं ? ये ज्ञानानन्दके पुञ्ज हैं जिससे हम परिचय बना रहे हैं। यह प्रभुका परिचय दिया जा रहा है। ये प्रभु ज्ञान भाव और आनन्द भावके पिण्ड हैं और कुछ नहीं हैं। ये किसीके चाचा, दादा, नाना, मामा आदि नहीं हैं। ये वीतराग हैं। ये किसीमें प्रीति करें किसीमें द्वेष करें, किसीका काम बना दें, किसीको दण्ड दें ये सब कुछ नहीं करते। इनका आत्मा केवल ज्ञानानन्द स्वरूप है। रागद्वेषका बिन्दु मात्र भी नहीं है। यह ज्ञान और आनन्दके पुञ्ज निर्मल विशुद्ध केवल खाली आत्मा ही आत्मा हैं।

प्रभुकी निर्नामता— प्रभुका नाम क्या है ? क्या ऋषभदेव ? नहीं। क्या महाबीर ? नहीं। प्रभुके नाम ये कोई नहीं हैं। पर नाम लिये बिना व्यवहार नहीं चलता। बात नहीं बतायी जा सकती इसलिये इनका नाम रखा है। तो रखा हुआ ही नाम बतावो ? तुमने इस प्रभुका नाम क्या रखा है ? ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदिक नाम रखे गए हैं क्या ? नहीं। और, ये नाम रखे भी गए तो जिस रूपमें ऋषभदेव अजितनाथ आदिकको पूजते हैं वह रूप नहीं है प्रभुका। लोग यों निरखते हैं कि ऋषभदेव त्रिसलाके लाल थे, इतने हाथके थे, ऐसे मूर्तिक आकार रूपमें नाम रखा गया है वह नाम नहीं है प्रभुका। तब फिर क्या नाम है, रखा हुआ ही बतावो ? प्रभु जो प्रकर्षरूपसे पूर्ण विकासके रूपसे भू मायने हो जाय जिसका पूर्ण विकास हो उसे कहते हैं प्रभु यह नाम रखा है अपने इष्टदेवका। ठीक है। बतावो परमात्मा परम अर्थात् उत्कृष्ट। उत्कृष्ट ज्ञान हो जिस आत्माका वह है परमात्मा क्या ऋषभ अजित कुछ भी नाम नहीं हैं ? हाँ ऋषभका अर्थ है वृषभ वृष मायने धर्म और न भ मायने शोभित है। आत्माका धर्म जो ज्ञानानन्द स्वभाव है वह जिसमें पूर्णतया शोभित है वह ऋषभ। यह है प्रभुका नाम। लेकिन उस नाममें मरुदेवी नन्दन नाभिनन्दन और ५०० धनुष वाले यह मूर्तिकता नहीं नजर आयी। जो प्रभुका ठीक नाम बैठ रहा हो उसकी दृष्टि करो तो समझ लो यह है प्रभुका नाम

नामके द्वारा प्रभु-पूजाका प्रयोजन—हम लोग तो चौबीस नाम वाले भगवानकी भक्तिसे पूजा करते हैं क्यों करते हैं ? उसका कारण सुनो। जो भव्य आत्मा मुक्ति जानेको हैं वे किसी मनुष्य पर्यायसे ही तो मुक्ति जाते हैं। अब कोई भव्य आत्मा नाभिनन्दन, मरुदेवीनन्दन होकर मनुष्य पर्यायमें आये और उस मनुष्य पर्यायको नाम है ऋषभनाथ, अजितनाथ आदिक। इन नामों वाले भव्य तीर्थङ्कर हुए विशिष्ट पुण्यशाली हुए, इनकी वजहसे जैन शासनका प्रवर्तन हुआ। ये आत्मा चार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

घात्तिया और चार अघातिया कर्मोंका नाशकर सिद्ध हुए। ये तीर्थङ्कर जब समव शरणमें भी विराजमान हुए उस समय भी भव्य जीव परमात्माका तब दर्शन कर पाता है जब नाम आकार, लम्बाई चौड़ाई, कान्ति आदियुक्त उस देहमें बसने वाले उस पवित्र आत्माका ध्यान करें। उस ध्यानमें क्या ध्यान होगा, तब परमात्माका दर्शन वहाँ भक्त कर पायगा। तो प्रभु हैं यह। ये कहां रहते हैं? प्रभुकी अवस्थायें दो प्रकारकी हैं। वे दो प्रकार मुकाबिलेतन नहीं हैं, किन्तु पहिले तो अरहंत अवस्थामें हैं और उसके पश्चात् सिद्ध अवस्थामें हैं। ये दोनों ही अवस्थायें परमात्माकी हैं। केवल अपने स्वरूपमें रहते हैं। अपने आत्म प्रदेशोंमें रहते हैं। ऐसे तो हम भी अपने ही आत्म प्रदेशोंमें रहते हैं। हम कहाँ बारह रहते हैं? प्रत्येक पदार्थ अपने प्रदेशमें रहता है, कहीं बाहर नहीं रहता।

प्रभु-परिचय—प्रभुका कुछ और परिचय सुनो! ये परमात्मा ज्ञान उपयोग द्वारा भी अपने आत्मामें रहा करते हैं। ठीक है, पर कुछ बाहरी बात समझमें नहीं आयी कि कहाँ रहते हैं? उनका बाहरमें स्थान कुछ नहीं है। वे अपने परमौदारिक शरीरमें रहते हैं। और, सिद्ध भगवान लोकके अन्तपर जाते हैं सो लोकके शिखरपर विराजमान रहते हैं। और, ये क्या किया करते हैं? यह तो नाम और स्थानका परिचय है। ये परमात्मा अपने ज्ञान और आमन्दस्वभावका निरन्तर शुद्ध विलास किया करते हैं। यही उनकी रोजिगार है। न उनके भूख-प्यास है, न कोई रोग है, न कोई अन्य द्वंद-फंद है, संयोग मोह-ममता आदिक कोई विडम्बनाएँ भी वहाँ नहीं हैं केवल आत्मा आत्माका स्वरूप है। वह ज्ञान द्वारा समस्त विश्वको जानते रहते हैं और उसही ज्ञानसे स्वयं अपने आत्माको और स्वरूपको भी बराबर जानते रहते हैं। यों स्व और पर प्रकाशक भानुकी तरह उनका ज्ञान भी स्वपरप्रकाशक है। तो इस कामके करनेसे उन्हें नफा क्या होता है? वे निरन्तर ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको और समस्त विश्वको जानते रहते हैं। ऐसे पुरुषार्थका, रोजिगारका, परिणमनका फल क्या मिलता है उन्हें? फल उन्हें मिलता है अनन्त आनन्द। जहाँ केवल ज्ञाता दृष्टा रूप परिणमन है। सर्व विश्वके ज्ञाता हैं पर किसी भी बाह्य पदार्थमें उनके मोह नहीं, रागद्वेष नहीं। अतएव वे प्रभु अनन्त आनन्दको भोगते रहते हैं।

प्रभु-पूजासे आत्मशासन देखो! कुछ भी चीज जो आपको आज प्राप्त है कुछ भी सदा नहीं रहनेका। अकेले ही हैं, अकेले ही रहेंगे। जैसे कोई पुरुष पहिले निर्धन था, बीचमें दो चार वर्षको धनिक हो गया। फिर निर्धन हो गया तो जैसा था वैसा ही हो गया, ऐसे ही अकेले होकर भी आज बहुतोंके संगमें हैं पर अन्तमें फिर अकेलेके अकेले ही रह जायेंगे। यह जीव है तो अपने स्वभाव समृद्धिके कारण अनोखा अनुपम लेकिन अब तक यह गरीबी ही भोगता चला आ रहा है, परकी आशा, परतंत्रता रखता हुआ चला आ रहा है। अकेला ही आता है और कुछ दिनोंको स्वप्नेको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

देखकर फिर यह आगे अकेला ही जायगा। अकेला ही रहेगा। अतएव पायी हुई विभूतिमें वि वास मत करें कि यह मेरा हितरूप है या मेरा कुछ है। अपने ज्ञान स्व-रूपके निकट रहना यह प्रभु-पूजासे हमें शिक्षा मिलती है और इसके सम्बन्धसे ऐसी दृष्टि जगती है जिससे शान्ति मिले, यह लाभ है प्रभुका सम्बन्ध बनानेका।

ज्ञानमें सर्वसाधारणरूपसे स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि - परमात्मा ज्ञानस्वरूप है और वह ज्ञान स्वका भी प्रकाशक है परका भी प्रकाशक है स्वपर प्रकाशक है। जैसे प्रभुका ज्ञान स्वपर व्यवसायी है इस ही प्रकार समस्त आत्मावोंका ज्ञान स्वपर प्रकाशक है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अपनेको भी भानमें लिए रहे और उस ज्ञानका जो विषय होता है पर पदार्थ वह भी भानमें रहा करे। तब यहाँ शङ्काकारने जो यह अनुमान बनाया था कि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा ही जाना जाता है, क्योंकि प्रमेय होनेसे। इस प्रमाणका अनुमानमें परमात्माके ज्ञानसे अनेकान्त होता है अर्थात् प्रभुका ज्ञान भी प्रमेय है और स्वयं अपने आपके ज्ञानसे जाना जाता है। इसपर शङ्काकार यह कहता है कि हम लोगोंकी अपेक्षासे यह बात ठीक सिद्ध हुई है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। ईश्वरके ज्ञानकी बात नहीं कह रहे हैं, प्रमेय होनेसे। हम लोगोंके ज्ञान खुद अपने आपको नहीं जानते किन्तु ज्ञानकी जानकारी करनेके लिये नया ज्ञान उत्पन्न करना होता है तब ज्ञानकी जानकारी बनती है ऐसा शङ्काकार कह रहा है। उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह तो सिर्फ ज्ञान ज्ञानकी बात चल रही है, चाहे ईश्वरका ज्ञान हो, चाहे संसारी जीवोंका ज्ञान हो, जिस तत्त्वमें जो स्वभाव होता है वह तो वहाँ रहता ही है। हम लोगोंका ज्ञान हो अथवा प्रभुका ज्ञान हो, समस्त ही ज्ञान स्वपरव्यवसायी हुआ करते हैं। यह कहना तुम्हारा युक्त नहीं है कि भाई ईश्वर तो एक विशिष्ट आत्मा है, वह सारे विश्वको जानता है और अपने आपके स्वरूपका भी निर्णय रखता है, और हम आप संसारी लोगोंको ज्ञान अपने आपके स्वरूपका निर्णय नहीं रखता है। केवल परको ही जानता है, यह दो दुधाबात नहीं कह सकते क्योंकि वह तो स्वभावके अवलम्बनकी बात है। स्वपरका प्रकाशक यह ज्ञान सामान्यका स्वभाव है। कोई विशिष्ट ज्ञानका स्वभाव नहीं है कि ईश्वरका ज्ञान तो स्वपरप्रकाशक हो और हम लोगोंका ज्ञान केवल परप्रकाशक हो।

दृष्टान्तपूर्वक सर्वसाधारणरूपसे ज्ञानमें स्वपरप्रकाशकताकी सिद्धि— जैसे जो तेजस्वी चीज है उसका स्वभाव है यह कि स्व और परको प्रकाशित करदे। चाहे वह प्रदीप हो, चाहे वह सूर्य हो, ऐसा तो नहीं है कि सूर्यमें तो दो स्वभाव हों कि अपने आपका भी प्रकाश करे और परका भी प्रकाश करे दीपकमें एक ही बात हो, केवल परको प्रकाश करे। हाँ, विकासमें अन्तर है। दीपकका विकास थोड़े क्षेत्रमें है, सूर्यका प्रकाश बहुत क्षेत्रमें है, ऐसे ही प्रभुका ज्ञान सारे विश्वका जाननहार है और

Version 1

हम आप संसारी लोगोंका ज्ञान कुछ क्षेत्रका जाननहार है। लेकिन ज्ञानमें जो स्वभाव है वह तो सर्वत्र एकरूप है। चाहे प्रभुका ज्ञान हो चाहे संसारियोंका ज्ञान हो यदि केवल सूर्यमें स्वपरप्रकाशकता पाये जानेसे प्रदीपमें स्वपरप्रकाशकता कोई न माने तो वह अनुचित बात है। इसी प्रकार प्रभुमें स्वपरप्रकाशकता होनेसे यहाँ भी स्वपर-प्रकाशकताकी सिद्धि होती है। यदि कोई शङ्काकार यह कहे कि प्रभुके ज्ञानकी तरह यदि हम लोगोंके ज्ञानमें भी स्वपरप्रकाशका स्वभाव आ जाय तो प्रभुकी तरह सारे विश्वका ज्ञान कर लेना चाहिये, सभीको सर्वज्ञ हो जाना चाहिए। तो इसका पल्टा तो दीपक और सूर्यमें भी घटित होता है। सूर्यकी तरह दीपक भी स्वपरप्रकाशक है, तो सूर्यकी ही तरह बहुत विस्तृत क्षेत्रमें दीपक प्रकाश कर बैठे तो वहाँ योग्यताकी बात मानते हो कि दीपकमें इतनी ही योग्यता है कि कमरेभरमें प्रकाश करे और सूर्य में इतनी योग्यता है कि वह लाख योजनके क्षेत्रमें प्रकाश करे तो इसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना कि संसारी जीवोंके ज्ञानमें इतनी योग्यता है कि वह थोड़ेसे क्षेत्रमें प्रकाश करे और प्रभुके ज्ञानमें ऐसी योग्यता है कि वह योजनोंके विस्तारमें प्रकाश करे। इससे ऐसा ही मानें कि सभी ज्ञान स्वपरप्रकाशक होते हैं। जैसे कि प्रभुका ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता क्योंकि ज्ञान होने से। अथवा व्यवधान न रखकर पदार्थका प्रकाशक होनेसे ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। इन्द्रियाँ पदार्थके ज्ञानमें कारण तो होती हैं पर व्यवधानरहित होकर नहीं। अर्थात् ज्ञानका तो पदार्थोंके जाननेमें साक्षात् सम्बन्ध है और इन चक्षु आदिक इन्द्रियोंका पदार्थोंकी जानकारीसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु जाननेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त है। अतः पदार्थकी जानकारीमें इन्द्रिय तो व्यवहित कहलाती है और ज्ञान व्यवहित नहीं है, ज्ञान स्वपरप्रकाशक है क्योंकि ये अर्थ ग्रहण आदिक पदार्थके जाननहाररूप हैं। जो स्वपरव्यवसायी न हो वह न साक्षात् जाननहार बन सकता न पदार्थका ग्रहण करने वाला बन सकता। जैसे महेश्वरका ज्ञान स्वपरव्यवसायी है इसी प्रकार हमारा भी ज्ञान स्वपरव्यवसायी है। ज्ञान प्रमाण है और ऐसा ज्ञान प्रमाण है जो स्वका भी निर्णय रखता और पर पदार्थका भी निर्णय रखता है।

ज्ञानमें अन्य ज्ञान संविदितताकी असिद्धि – ज्ञानको स्वतः निर्णय न मानकर किसी अन्य ज्ञानके द्वारा यह ज्ञान जाननेमें आता है, इसमें जो प्रमेयत्व हेतु दिया वह आश्रयसिद्ध हेतु है अर्थात् पहिले ज्ञानको सिद्ध कर लें कि ज्ञान कुछ है फिर विशेषता सिद्ध करनेके लिये हेतु दें। जैसे यह पर्वत तो हो नहीं सामने लेकिन कह दिया कि इस पर्वतमें आग है क्योंकि धुवां होनेसे। तो भाई जो आश्रय है वह तो है ही नहीं और व्यर्थकी कल्पना बनाते हो इसे कहते हैं आश्रयसिद्ध। इसी प्रकार जो दार्शनिक ज्ञानको स्वपर प्रकाशक न मानेंगे वे ज्ञानकी सत्ता भी सिद्ध नहीं कर सकते कि ज्ञान है कुछ। एक थोड़ा सा समझका अन्तर रहा। शङ्काकारका प्रयोजन यह है कि जैसे हमने जाना कि यह घड़ी है। तो घड़ी तो जान ली पर जिस ज्ञानके द्वारा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हमने समझा यह घड़ी है उस ज्ञानको अगर हम समझना चाहें तो उसकी समझके लिये एक भीतरमें नया ज्ञान बनाना पड़ता है कि ने जो जाना कि यह घड़ी है यह ज्ञान सही है ऐसी समझ नये ज्ञानसे बनती है, किन्तु स्याद्वादका यह कथन है कि जैसे ही ज्ञानने जाना कि यह घड़ी है उस ही समय उस ज्ञानने यह भी अपनेमें निर्णय बना डाला कि यह ज्ञान सही है। उस ज्ञानको सही सिद्ध करनेके लिये नया ज्ञान नहीं बनाना पड़ता है। तो जो लोग ज्ञानको स्वयं अपने स्वरूपसे स्वपर प्रकाशक न माने वे ज्ञानको भी सिद्ध नहीं कर सकते। ज्ञान इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्षमें नहीं आता क्योंकि इन्द्रियका और पदार्थका सन्निकर्ष कराने वाला हुआ तो कुछ। यदि मनको मानोगे कि मन इन्द्रियका ज्ञानका सम्बन्ध बनाता है तो न तो सम्बन्ध सिद्ध होगा और न मन भी सिद्ध होगा। मन भी है कुछ यह भी क्या सिद्ध करेंगे।

प्रमाणमें ज्ञानकी अव्यवहित कारणता—देखिये तथ्य तो यह है कि हम पदार्थको जो जानते हैं सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके द्वारा उसमें होता क्या है कि इन्द्रियका निमित्त बनता है तब ज्ञान हो पाता है और वे इन्द्रियां हैं दो प्रकारकी। एक भाव इन्द्रिय, दूसरी द्रव्यइन्द्रिय। तो भाव इन्द्रिय तो ज्ञानरूप है भीतरमें जो उपयोग लगाया ज्ञानावरणका क्षयोपशम हुआ तो जो अन्तरमें ज्ञानरूप व्यापार चलता है वह तो है भाव इन्द्रिय। और जो ये बाहर दिखने वाली इन्द्रिय हैं, जिनका सहारा लेकर हमारे भाव इन्द्रियका प्रयोग होता है वे सब द्रव्य इन्द्रिय हैं। लेकिन जहाँ इन्द्रिय भी अत्यन्त भिन्न मन भी अत्यन्त भिन्न और की तो कथा क्या, ज्ञान भी आत्मासे अत्यन्त भिन्न, ऐसी भिन्नताके सिद्धान्तमें न तो यह सिद्ध किया जा सकेगा कि यह ज्ञान इस आत्मा का है और न यह सिद्ध हो सकेगा कि इस मनका सम्बन्ध इस आत्मासे है फिर ज्ञान की सिद्धि ही नहीं कर सकते।

मोहमें ज्ञानस्वरूपकी अजानकारी—ज्ञान जैसा स्पष्ट तत्त्व अन्य कुछ होता भी नहीं लेकिन मोहमें कितनी उल्टी बुद्धि हो रही है जीवोंमें कि इस ज्ञानके द्वारा हम जो जो पदार्थ जानें उन्हें तो हम स्पष्ट समझते हैं किन्तु यह ज्ञान जिसके द्वारा हम पदार्थों को जान रहे हैं जो स्वयं आत्माके स्वरूप है उसका स्पष्ट भान नहीं हो रहा है, तो यह है ज्ञान। न भी हो वे स्पष्ट भान फिर भी भान हुए बिना पदार्थका ज्ञान नहीं बनता। अपने आपपर ज्ञानकी वृत्ति व्यतीत होती है और हमपर उस ज्ञानका असर चलता है, उस हीके प्रभावसे हम पदार्थोंका ज्ञान करते हैं, चाहे हम उस ज्ञानभावको न जान पायें फिर भी जाना हुआ होकर ही पदार्थको जानता है, उपयोगने इसे पकड़ा नहीं है, क्योंकि मोहका ऐसा ही प्रकार है। जो हितकी बात है वह तो पकड़में आती नहीं और जिससे हितका सम्बंध नहीं है ऐसे ये बाह्य परपदार्थ ग्रहणमें आते रहते हैं, मोहमें ऐसी ही विपरीत बुद्धि होती है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ऐसा ही अनुभव जगे जिस भी क्षण, उस आत्मा में अतुल आनन्द उत्पन्न होता है, सारी आकुलताएँ मिट जाती

हैं। आकुलताएँ बाह्य पदार्थों के राग में उत्पन्न होती हैं, वे सब तो पर ही हैं, भिन्न ही हैं और उनसे यह भिन्न आत्मा रख रहा है प्रीति।

ज्ञानवृत्तिके यथार्थ निर्णय बिना हितकी सिद्धिका अभाव—अहो चाहता तो यह है प्राणी कि इस परका सम्बन्ध सदैव रहे। ये पर पदार्थ जैसा मैं चाहूँ वैसा परिणमें। पर यह बात कभी हो सकती है नहीं। तो अनुकूल परिणमन न होनेसे यह जीव दुःखी होता है आकुलित होता है। यह मोही प्राणी चाहता है कि मेरे इष्टका सम्बन्ध सदैव रहे किन्तु रह सकता नहीं, वस्तु स्वरूपका ऐसा ही नियम है। तब यह जीव आकुलता ही तो मचायेगा। दूसरा कारण यह है कि यह चाहता है कि परपदार्थ मेरे इष्ट मित्र आदिक या अन्य अन्य भी लोग जैसा मैं चाहूँ वैसा ये करें, वैसा ही परिणमें, यह भी बात अपने आधीन नहीं है, क्योंकि समस्त परपदार्थों का स्वरूप चतुष्टय मेरे स्वरूपसे अत्यन्त भिन्न है अतएव मेरे चाहनेके अनुसार परपदार्थोंका परिणमन हो नहीं सकता, इस कारण भी यह जीव विह्वलता मचाता है लेकिन एक स्वरूपदृष्टिकी औषधि स्वरूप दर्शनके अमृतकी घूंट पी लीजिए मैं मैं ही हूँ, जितनेमें अनुभव जगा उतना ही मात्र मैं हूँ जो यह ज्योति बनी, जो यह ज्ञान प्रकाश उठ गया उतना ही मात्र मैं हूँ, मेरा काम भी जो यह ज्ञान वृत्ति बनी उतना ही मात्र है, ऐसा अपने आपके स्वरूपका निर्णय बने और यहाँ ही मग्नता हो तो सारे संकट एक साथ दूर हो जाते हैं। मेरे उपयोगमें अन्य पदार्थ नहीं है तो दुःखोंके दूर करनेका यह एकत्व दर्शन उपाय है, लेकिन जैसे कोई खूनके दागको खूनसे ही धोने लगे तो वह दाग धुल नहीं सकता इसी तरह परकी दृष्टि रखनेसे उत्पन्न हुई वेदनाको मिटानेके लिये परका ही सहारा चाहे तो उसकी वेदना मिट नहीं सकती। होता भी क्या है यहाँ?

अन्तर्वृत्तिका वर्णन—जैसे समुद्रमें लहर उठती है तो वह लहर क्या किसी अन्य चीजसे बनी हुई है? अरे समुद्रमें एक ऐसा रूप बन गया कि हवाका निमित्त पाकर वह जल लहर रूप बन गया। जलको छोड़कर अन्य कुछ वह नहीं है। कुछ ही समय बादमें वही समुद्र शान्त हो जाता है। तो मामूली हवा भी उसे विचलित नहीं कर सकती। वह जो स्थिर शान्तरूप है वह समुद्रकी ही एक अनवस्था है अन्य चीज कुछ नहीं है। हाँ, उसमें निमित्त यह रहा कि हवा भी न चली। हवाके न चलनेका निमित्त पाकर समुद्र शान्त और स्थिर हो जाता है। इसी प्रकार जो दुःख सुख आदिक वेदन हो रहे हैं वे सब क्या हैं? वे भी ज्ञानकी लहरें हैं, आत्माकी तरंग हैं और वे उत्पन्न हुई हैं उपाधि भावकर्मके सम्बन्धसे। तो उपाधि और भावकर्मका सम्बन्ध न रहे तो आत्मा स्वयं शान्त स्थिर गम्भीर हो जाता है। ज्ञान सभी स्थितियों में चाहे वह शान्त गम्भीर बने तो भी स्वपरप्रकाशक है और जबकि क्षोभसहित तरंग सहित सुख दुःख आदिक वेदन सहित बन रहा है आत्मा उस समय भी ज्ञान स्वपर-

http://www.jainkosh.org

प्रकाशक है। सुख दुःख हो जाय और उस सुखको यह ग्रहण न करे तो सुखका अनुभव क्या? दुःख उत्पन्न हो जाय और उसे यह ज्ञान ग्रहण न करे तो दुःखका अनुभव क्या? ऐसे ही जानकारी तो बन जाय और उस जानकारीको ज्ञान ग्रहण न करे तो जानकारी भी क्या? यह आत्मा स्वपरप्रकाशक है, तब ज्ञान दर्शनकी व्यवस्था बनती है। ज्ञान स्वपरव्यवसायी है, केवल वह परको ही जाने ऐसी बात नहीं है. वही ज्ञान प्रमाण है जो स्वपरव्यवसायी हो।

ज्ञानकी स्वपरव्यवसायिताका शङ्कासमाधानपूर्वक समर्थन—जो यह कहा था शङ्काकारने कि ज्ञान ज्ञानको कैसे जान लेगा? किसी पदार्थमें अपने आपमें कोई क्रिया नहीं होती। जैसे तीक्ष्ण भी तलवार हो तो क्या वह अपने आपके भी टुकड़े कर सकती। ऐसे ही कितना ही निपुण नटका बालक हो पर वह अपने आप कंधेपर चढ़ जाय रस्सीपर जैसा सो यह नहीं हो सकता। तो जैसे यहाँ उसकी क्रिया उसमें खुदमें नहीं होती ऐसे ही ज्ञानकी क्रिया जानकारी ज्ञानमें खुदमें नहीं होती। यह दृष्टान्त दिया था शङ्काकारने लेकिन यह बात विरुद्ध है। प्रथम तो सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक पदार्थका अपने आपके स्वरूपमें भी व्यापार होता है। अपने आपमें ही ही अपनी क्रिया होती है। प्रथम तो तथ्य यह है, और फिर दूसरी बात यह है कि जाननका काम और तलवार तलवारके टुकड़े कर दे ये काम भिन्न प्रकारके हैं। जानन तो केवल एक प्रकाशभावका ही काम है। वह तो अपने आपमें है। अपने आपका स्वयं प्रकाश कर लेगा। यह बाहरी दृष्टान्त है। तो यह कहना कि पदार्थका स्वात्मा में विरोध है, क्रिया नहीं कर सकते यह बात ठीक नहीं है, बल्कि यह युक्त है कि प्रत्येक पदार्थकी क्रिया स्वयंमें ही हुआ करती है। किसी पदार्थकी क्रिया दूसरेमें नहीं होती। यह तो व्यवहार कथन है कि तलवारने अमुकका शिर काट डाला। पर ऐसी बात नहीं है। तलवारमें तलवारकी सारी क्रियायें हुई। तलवारसे बाहर नहीं हुई। यह वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे कहा जा रहा है। अपने आपमें ही पदार्थकी क्रिया हुआ करती है। इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया है जानन। वह जानन ज्ञानमें ही होता रहता है परपदार्थोंमें नहीं हो रहा है। जैसे कोई पुरुष किसी भी पर आत्मासे प्रीति कभी कर ही नहीं सकता। कर रहा है वह अपने ही प्रदेशोंमें भावोंकी प्रीति। किन्तु, उस प्रीतिका विषयपर बना, उस परका उपचार करके कहते हैं कि इसने अमुक पुरुषमें प्रीति की। इसी प्रकार ज्ञान भी परपदार्थका नहीं होता ज्ञान भी अपने आपके प्रदेशों में ही चलता है। परके जाननेमें जो परपदार्थ विषय हुए उपचारसे हम कहा करते हैं कि ज्ञानसे चौकीको जाना। और ज्ञान स्वका ही निर्णायक है और उपचारसे परका निर्णायक है यों ज्ञान स्वपरव्यवसायी होता है, वह ज्ञान प्रमाण है और इस ही प्रमाणके बारेमें आगे बहुत विस्तारसे वर्णन होगा जिससे हम आप निर्णय कर सकेंगे कि अमुक सिद्धान्त सदोष है और अमुक सिद्धान्त निर्दोष है। इस प्रकरणमें ज्ञानको स्वपरनिर्णायक सिद्ध किया गया है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्रियावानमें क्रियाके स्वरूपका अविरोध –ज्ञान होता तो है स्वपरप्रकाशक अर्थात् अपने आपके स्वरूपका भी भान रहता है और बाह्य पदार्थोंका भी ज्ञान करता है किन्तु इसके विरोधमें एक दार्शनिकने यह पक्ष रखा था कि ज्ञान खुदको नहीं जान सकता। ज्ञानके स्वरूपको जाननेके लिए अन्य ज्ञान बनाने पड़ते हैं क्योंकि किसी भी पदार्थका अपने आपमें क्रियाका विरोध होता है। जैसे कुल्हाड़ी अपने आपको नहीं काट पाती है। बहुत सीखा हुआ भी नटका लड़का अपने कंधेपर चढ़ नहीं सकता। ऐसे ही ज्ञान भी अपनी जाननेकी क्रियाको अपने आपमें नहीं लगा सकता। स्वात्मामें क्रियाका विरोध है यह पक्ष रखा था। उसके समाधानमें उनसे पूछा जा रहा है कि क्रियाकी जो स्वात्मा है क्रियाका जो रूप है और जिसमें होती है क्रियाका स्वरूप क्या निज आत्मा है या क्रियावान आत्मा है? यदि क्रियाका स्वरूप क्रियाका स्वात्मा है तो फिर क्रियाके स्वरूपका खुदमें विरोध कहाँ? स्वरूपका तो खुद द्रव्य विरोधक नहीं होता। जैसे जीवका स्वरूप ज्ञान है तो क्या ज्ञानका जीवमें विरोध हो सकता है? नहीं। इसी तरह क्रियाका स्वात्मा क्रियाका स्वरूप ही है। तो क्रियाके स्वरूपका क्रियाके स्वात्मामें क्या विरोध हो सकता है? न हो सकेगा। यदि अपने आपका अपने आपके स्वरूपमें विरोध हो जाय तो समस्त पदार्थ स्वरूपरहित हो जायेंगे और विरोध तो दोमें हुआ करता है। क्रियाका जो स्वरूप है, क्रियाका जो स्वात्मा है वह तो दो नहीं है। तो विरोध कैसे? जाननेका विरोध खुदमें नहीं हो सकता। यदि क्रियावान आत्मा क्रियाका स्वात्मा है तो ठीक ही है। क्रियावान खुद हुआ, खुदमें उसकी प्रतीति हो जायगी नहीं तो समस्त द्रव्य क्रियासे रहित हो जायेंगे किन्तु ऐसा तो नहीं है। सबकी क्रिया अपने आपमें प्रकट हो रही है। तो जो जाननेकी क्रिया हो रही है आत्मामें वह जाननका काम खुदमें भी चल रहा है और परपदार्थके जाननेका भी चल रहा है। कर्म भी जाननेमें आ रहा, कर्ता भी जाननेमें आ रहा। सब अपने अपने रूपसे जाननेमें आ रहे।

जाननके प्रसङ्गमें कर्ता कर्म करण व क्रियाकी प्रतीति—मैं ज्ञानके द्वारा चौकीको जानता हूँ इस प्रयोगमें जो चार बातें आयी मैं, चौकीको, ज्ञानके द्वारा जानता हूँ, उन चारकी बराबर समझ बन रही है। तो चारों ही प्रत्यक्षमें आ रहे हैं अतएव जाननेका ज्ञानमें अविरोध हुआ। ज्ञान स्वको भी और परको भी जानता है। जाननेकी क्रियाका खुदमें विरोध नहीं होता और वहां तो कुल्हाड़ीकी क्रिया कुल्हाड़ीमें हो रही है, यह तो विचारसे मानोगे कि कुल्हाड़ीकी क्रिया कुल्हाड़ीमें ही होती है। सभी पदार्थोंका परिणमन उनका उनमें होता है। यह तो लोग मोटी दृष्टिसे कहते हैं चाकूने पेन्सिलको छीलनेका काम किया परन्तु तथ्य यह है कि चाकूने अपने आपमें हलन चलनका काम किया। अब उस हलन चलनमें चाकूका सम्बन्ध पाकर पेन्सिल भी छिल गयी पर चाकूने पेन्सिलमें कुछ नहीं किया। यही बात सब जगह है। लोग कहते हैं कि हमने मकान बनाया अरे तुमने तो केवल भाव बनाया विकल्प किया,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

इच्छाकी योग किया, ईंट आदिकका सम्बन्ध जोड़ा, वे पुद्गल हैं पुद्गलसे चेतन त्रिकाल भी नहीं बन सकता। लोग कहते हैं कि मैंने इस लड़केको खूब पढ़ाया और घर गृहस्थी बना दी, पर उस पुरुषने कुछ भी नहीं किया सिर्फ अपना भाव किया, विकल्प किया योग किया प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें ही अपने आपका काम कर पाता है। यह श्रद्धा जिस दिन हो जायगी समझ लो हमको स्वपरदृष्टि प्राप्त है जो मोक्षके मार्गमें ले जाने वाली है, उस दिन समझिये कि हमारा कल्याण हुआ। जब यह दृष्टि जम जायगी कि मेरा काम मेरा सर्वस्व मेरा स्वरूप मेरा कर्तव्य, मेरी कला, मेरी करतूत सब कुछ मुझमें ही है। मुझसे बाहर मेरा कुछ तत्त्व नहीं है। इसी प्रकार दुनियाके समस्त जीवोंका और चेतन अचेतनका सबका सब कुछ उस ही पदार्थमें है उससे बाहर नहीं है। यही श्रद्धा अमृत है। इस अमृतका जो पान करता है वह अमर हो जाता है।

अमृतस्वरूप – लोग कहते हैं कि अमृतका पान करनेसे लोग अमर हो जाते हैं। तो वह बात बिल्कुल सही है। मिले तो कभी अमृत। और, पान करनेका ढंग भी है, यों ही मुंहसे वह अमृत नहीं पिया जाता, उसके पीनेका ढंग निराला है और कोई उस अमृतको पी ले तो अमर हो जाता है। अच्छा ढूंढो अभी मिल जायगा कहीं बाहर भी न जाना पड़ेगा। अमृतका अर्थ है 'न मृतं इति अमृतं'—जो कभी मरे नहीं वह अमृत है। जो अमृत फल खा लिया जाय अथवा पी लिया जाय वह यदि खुद नष्ट हो गया, खुद मर गया तो दूसरेको अमर क्या करेगा ? तो जो अमर चीज है उसे ढूंढो। कौनसा वस्तु पदार्थ तत्त्व है जो नष्ट नहीं होता ? ऐसा तो समस्त पदार्थोंका सहज स्वरूप है। वह कभी नष्ट नहीं होता। पुद्गल परमाणुमें जो मेरा स्वरूप है वह भी अमृत है। वह भी मरता नहीं है। धर्म आदिक समस्त पदार्थोंमें जो स्वरूप बसा है वह भी अमृत है, वह भी नष्ट नहीं होता, लेकिन उसका मिलना बड़ा कठिन है, किसी दूसरे पदार्थका स्वरूप हमें मिल कैसे जायगा पान करनेके लिये? तो छोड़ो, वह अमृत नहीं मिलता न मिलने दो और उनकी चाह भी न करो, पर अपने आपमें जो अमृत तत्त्व है वह तो खुदको मिला हुआ है। उसको तो खोज भी नहीं करता, वह तो सब अपने आपमें है। वह क्या ? अपने आत्माका सहज स्वरूप, ज्ञानस्वरूप। जो अपने आपके सत्त्वके कारण अपने आपमें धर्म है वह अमृत है ना खुदके पास। हाँ हाँ है तो सही। हमारे पास भी यह अमृत तत्त्व है। अच्छा अमृत तो मिल गया, अब जरा पान करनेकी तरकीब बतावो। वह तो मुंहसे पिया भी नहीं जाता। पान क्या करें। उसके पानकी तरकीब व्यवहारमें तो यह है कि अंजुली से पी ले। देखो बर्तनमें पानी पीने की अपेक्षा यदि अंजुलिमें पानी पिया जाता तो उसका स्वाद कुछ विशेष होता है। बर्तनमें तो कुछ खराब भी हो सकता है, अंजुली में नहीं खराब होता है। तो अमृत पीनेके लिये भी अंजुली चाहिए मगर हाथकी अंजली न चाहिए। कान अंजुलीसे फिर ज्ञान अञ्जुलीसे उस अमृत [illegible] पी लें।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अमृतका स्थान और पान—वह अमृत तत्त्व है ज्ञानस्वरूप, जिसकी चर्चा इस प्रकरणमें चल रही है। जो स्वपरप्रकाशक है उस स्वपरप्रकाशक ज्ञानतत्त्वको वाणीरूपी अंजुलीसे पी लीजिये ! लो यह तो पहिली विधि बतायी व्यवहारकी। अब उस अमृत ज्ञानतत्त्वको कहाँ ले जायें, किस कोठेमें रखें ? तो अभी तो अंजुलीका ही काम किया है, उसे अब उपयोगकी गलीसे ले जाइये और रखिये कहाँ ? बस जहाँ यह अमृत तत्त्व है वहींसे पीनेके लिए उठायें और उसीमें रख लें। इतना सीधा सरल काम है अमृत तत्त्व पीनेका और अमर होनेका। अच्छा लो उस ज्ञानस्वरूपको हम ज्ञानोपयोगमें ले जायें, उसे पी लें, अब हम अमर हो गए ? हाँ हो गए। क्या यह शरीर मिटेगा नहीं ? अरे शरीरकी अभी कहाँ बात कर रहे। अरे देख लो, उस अमृत ज्ञानतत्त्वको पीनेसे अर्थात् अनुभव करनेसे खुदमें जो दिखा, स्वयंमें जो अनुभव जगा उससे यह विदित होगा ना, कि यह मैं जो आत्मा हूँ सो अमर हूँ, कभी नष्ट होने वाला नहीं हूँ। तो पूछने वाला पूछ सकता है कि अमर कहाँ बनाया ? अमर था उसे बता दिया, अमर बनाया नहीं। बनाना उसे कहते हैं कि पहले अमर न हो और पीछे अमर बना हो। वह आत्मपदार्थ तो अमर था, अब उसे बता दिया गया कि यह अमर है। अमरके भूलसे हम मरे मरे चिल्ला रहे थे, मरे मरे समझ रहे थे लेकिन ज्ञान ज्योतिमें अपने आपको अमृत मानना होगा। तो यह है अमृत तत्त्व, जिसका पान करनेसे अमर हो जाता है।

ज्ञानकी जाननक्रिया और उसका ज्ञानमें अविरोध वह अमृत तत्त्व, वह ज्ञानस्वरूप स्वका भी और परका भी प्रकाशक है। ज्ञानकी क्रिया जाननेकी है। उस जाननका इस ज्ञानस्वरूपमें भी विरोध नहीं है। यदि ज्ञानकी क्रियाका विरोध बताते हो तो यह बताओ कि उस क्रियाका अर्थ क्या है ? जिसके ज्ञानमें विरोध बताते। क्या वह क्रिया तपनरूप है ? कुछ उत्पन्न हुआ इसे भी क्रिया कहते। क्या वह क्रिया परिस्पंदरूप है ? क्या वह क्रिया धातुके अर्थरूप है ? गमली धातुका अर्थ है जाना। क्या करना धातुके अर्थरूप है अथवा जाननरूप है ? यदि क्रियारूप मानते हो तो रहो विरोध उसका। पर यहाँ उत्पन्न क्रिया तो नहीं है ज्ञानमें। ज्ञान अपने आत्माको उत्पन्न नहीं करता किन्तु ज्ञान छद्मस्थ अवस्थामें उत्पन्न होता है। तो अपनी सामग्री विशेषके वशमें हुआ खुदकी खुदमें उत्पत्तिकी क्रिया नहीं की जाती है।

परिस्पंदका ज्ञानस्वरूपसे पार्थक्य यदि कहो कि हलन चलन रूप क्रिया मानते हैं हम तो उसका विरोध क्या ? वह तो द्रव्यकी परिणति है। ज्ञानमें उसका सत्त्व नहीं है। ज्ञानमें हलन चलन होता है तो आत्मामें हलन चलन हो जायगा पर ज्ञानमें हलन चलन नहीं होता। ज्ञान तो एक भाव है, आत्मतत्त्व है। जैसे इस चौकी को चार हाथ दूर सरका दिया। तो बतावो कि चौकी हिली या चौकीका रूप हिला? दो बातें पूछी जा रही हैं। चौकीको उठाकर यदि फेंक दिया तो उसमें जो हलन चलन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हुआ वह चौकीमें हुआ या चौकीके रूपमें हुआ। चौकीमें और रूपमें गुण गुणीका अन्तर है। हलन चलन चौकीमें हुआ, रूपमें नहीं हुआ। अरे हरे ढङ्गसे हलन चलन क्रिया तो हरा अपनेमें हल रहा क्या? प्रदेशमें हलन चलन है तो उसमें वह हलन चलन प्रदेशसे बाहर गया क्या? यहाँ पीठ हिल गयी पर आत्माका जो ज्ञानभाव है उस ज्ञानभावमें हलन चलन नहीं होता।

धातुरूप क्रियाका भी स्वमें अविरोध—यदि कहो कि धातुके अर्थरूप क्रिया है तो भी वहाँ विरोध नहीं। भवति मायने होता है तो होता है का खुदमें विरोध है क्या? तिष्ठति मायने बैठता है तो उसका खुदमें विरोध है क्या? यदि कहो कि जाननरूप क्रिया हम मानेंगे तो उसका विरोध तो है ही नहीं कि जानन क्रियाका जाननसे विरोध हो जाय। स्वरूपसे विरोध किसीका भी नहीं होता अन्यथा दीपकका भी अपने आपके स्वरूपके प्रकाश करनेसे विरोध हो जायगा। तब फिर दीपकको ढूंढनेके लिये और दीपक तलासें। व्यवस्था ही कुछ न बनेगी। अपने कारण कलापसे वह दीपक स्वयं ही है और परका प्रकाश करे इस रूपमें उत्पन्न होता है ऐसी ही ज्ञानकी बात है। ज्ञान भी अपने कारण कलापोंसे क्षयोपशमसे, उपयोगसे स्वयं ही स्वयंका प्रकाश करता हुआ प्रकट होता है। ज्ञान स्वपरव्यवसायी है और वह ज्ञान सत्य है, अमर किया करता है, यह ज्ञानमात्र परका प्रकाश करे और खुदको कुछ न समझे तो वह ज्ञान कुछ जान ही नहीं सकता। अब इस प्रसङ्ग शङ्काकार यह बात रख रहा है कि ज्ञान क्रियाका तो साक्षात्में कर्मरूपसे विरोध है। कैसे? जैसे यह जाना कि मैं ज्ञानके द्वारा घड़ेको जानता हूँ। तो इसका कर्म क्या है बतलावो। घड़ेको। कर्ता कर्म क्रिया आदिक जानते तो होंगे? मैं कर्ता हूँ, घड़ेको जानता हूँ इसमें घड़को "यह कर्म है ज्ञानके द्वारा यह करण है, जानता हूँ यह क्रिया है। तो जाननेका कर्मरूपसे विरोध है इस कारण ज्ञान नहीं बनता यह कहना भी ठीक है। यों तो दीपकका भी अपने आपमें प्रकाशका विरोध हो जायगा। समस्त पदार्थ अपना अपना स्वरूप रख रहे हैं। जिसका जो स्वरूप है वह उसमें पाया जाता है। ज्ञानका स्वरूप है कि स्वपरको प्रकाशित करता रहे, जानता रहे। किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। ज्ञान स्वयं एक जाननरूप है, और जाननरूप जो गुण है वह जानेगा। जो कुछ भी जानन स्वरूपको जानता हो सबको जानेगा। जो खुदको नहीं जान सकता वह परको भी नहीं जान कर सकता। जो स्वयं ज्योति स्वरूप है वह दूसरेका भी प्रकाश कर सकेगा।

ज्ञानकी स्वव्यवसायिताका संतोष—ज्ञान स्वपरव्यवसायी है उसमें किसी भी एकका निराकरण नहीं किया जा सकता। यह बात जरा अपने अनुभवसे विचार लें। हम जितना जो कुछ भी जाना करते हैं, जानते जाते हैं और अन्तरमें भीतरमें संतोष होता जाता है वह संतोष अपने आपके जाननका पता है इसलिए हो रहा है।

Version 1

चौकी आदिक पदार्थोंका तो पता रहता है, और जो जानन बन रहा है भीतरमें उसका पता न हो तो संतोष कहाँसे आयगा ? खुदमें उस प्रकारका जानन चलता रहे उसका संतोष है, अनुग्रह है। देखो कोई पदार्थ घातक है, साँप प्राणघातका कारण है और उस साँपका हो गया हमें ज्ञान तो देखिये साँपसे तो हम हट गए। देखो कैसी कैसी बातें बन रही हैं। इष्ट पदार्थका ज्ञान होगा तो उससे भीतरमें संतोष झरेगा और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान होगा तो उसमें भी भीतरमें संतोष जगेगा। यदि अनिष्ट पदार्थके ज्ञानसे भीतरमें अनुग्रह न बने तो जो काम अपने भलेके लिए करना चाहिए था अर्थात् उस अनिष्टसे हटना चाहिए था उससे नहीं हट सकेंगे। तो ज्ञान जीवका स्वरूप है और जैसा जो कुछ है वैसा ज्ञान होता है तो चूँकि यह ज्ञान खुदको भी समझता है अतएव बराबर संतोष चलता जाता है। बाह्य वैभवके विकल्पमें इस जीव को कल्याण न मिलेगा और अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूपकी महिमा जाननेमें कल्याण मिलेगा। अपने आपको जान लो जिस विधिसे भी बने, चाहे तन, मन, धन वचन सर्वस्व समर्पित हो जाय फिर भी यदि एक अपने स्वात्मस्वरूपका दर्शन पा लिया तो समझिये कि अब मैंने पाया जो कुछ समृद्धि थी। इससे पहिले लौकिक वैभव कितना भी मिला हो लेकिन पाया कुछ नहीं। यह मेरा स्वरूपज्ञान स्वको भी प्रकाशित करता और परको भी प्रकाशित करता ऐसे ज्ञानका ज्ञान करें यह सच्ची अनुभूति है और इसीमें ही सम्यक्त्व बसा हुआ रहता है।

ज्ञानके स्वपरव्यवसायित्वकी अप्रतिषेध्यता - ज्ञानको प्रत्यक्ष न मानने वाले दार्शनिक अपना यह पक्ष रख रहे हैं कि ज्ञान ज्ञानको स्वयं नहीं जानता, क्योंकि ज्ञानकी क्रिया है जानन क्रिया और क्रियाका खुदपर प्रभाव नहीं हुआ करता। क्रिया का प्रयोग परपदार्थपर होता है जैसे कुल्हाड़ीका प्रयोग काठपर हुआ काठ छिद गया तो छेदन क्रियाका जो करण है उस करणका प्रयोग न होगा अर्थात् कुल्हाड़ी न कट जायगी परपदार्थ कटेगा, इसी प्रकार ज्ञानकी क्रिया है जानन क्रिया, उसका कारण है ज्ञान तो जानन क्रियाका प्रयोग, करण हम अपने ज्ञानपर न होगा उसका प्रभाव सब परपदार्थोंपर होगा। इस पक्षपर बहुत कुछ तो उत्तर दिये जा चुके। अब यह बतला रहे हैं कि भाई यदि एक जगह कोई बात देखी गयी तो उस ही प्रकार सबको मान लिये जायेंगे इसमें विडम्बना बनेगी। जैसे छेदन क्रियाका प्रयोग, छेदन क्रियाका कारण जो कुल्हाड़ी है उसपर नहीं होता ऐसे ही जानन क्रियाका करण जो ज्ञान है उसपर नहीं होता यों माना जाय तो घड़ेमें न प्रभा है न चमक है तो प्रदीपमें भी कह लो कि न प्रभा है न चमक है। अथवा किसी रास्तागीरमें सर्वज्ञता नहीं है तो यह भी कह लो कि प्रभुके भी सर्वज्ञता नहीं है। शायद यह कहो कि वस्तुकी विचित्रता ऐसी है कि रास्तागीर पुरुषके तो सर्वज्ञता नहीं है पर प्रभुमें सर्वज्ञपना है। तो यह बात ज्ञानके साथ जोड़ लो। छेदन क्रियामें तो उसका करण स्वयं नहीं छिदता लेकिन जानन क्रियामें तो उसका ज्ञान स्वयं जान लिया जाता है। ज्ञान स्वपरव्य-

http://www.jainkosh.org

सायी है। उसका स्वपरव्यवसायी होनेसे निषेध नहीं किया जा सकता।

ज्ञानमें जानन क्रियाके अविरोधकी पुनः साधना— अच्छा जानन क्रिया का कर्मसे विरोध है तो क्या अन्य ज्ञानकी अपेक्षा विरोध है या स्वरूपकी अपेक्षा। यदि अन्य ज्ञानकी अपेक्षा विरोध कहो तो महेश्वरके ज्ञानसे हमारा ज्ञान नहीं जाना जा रहा तो वह सर्वज्ञ नहीं रहे। अनेकान्त हो गया और स्वरूपकी अपेक्षा कहा तो स्वरूपमें तो विरोध है नहीं। ज्ञान एक ऐसा ही विलक्षण भाव है कि वह स्वयंको जानता रहता है। कोई भी बात आप सुनते हैं, समझते हैं, जानते है तो बात भी जानते हैं और जाननेकी जो प्रक्रिया है, पद्धति है, जानन है वह भी सब समझमें आ रहा है। ज्ञान स्वयंको समझता हुआ पर पदार्थोंको समझा करता है। ज्ञान स्व और परका दोनोंका व्यवसायक है। ज्ञानमें यह भी खूबी है कि समस्त पदार्थोंको एक साथ जान ले, आवरण होनेसे समस्त पदार्थोंको एक साथ जान ले। आवरण होनेसे हम ज्ञानके द्वारा बहुतसे पदार्थोंको एक साथ नहीं जान पाते। लेकिन सामर्थ्य हममें सब पदार्थोंको एक साथ जाननेकी है। इतना भी क्रमका नियम नहीं है स्वभावमें कि जैसे सुईसे ५० पान बड़ी तेजीसे छेद देनेमें होता। ज्ञानके द्वारा हम एक साथ स्पष्ट अनेक पदार्थोंको जान लेते हैं। हां जब तक आवरण है तब तक उसमें क्रम बना है लेकिन उस क्रमके अन्दर भी जितनी हमारी योग्यता है उसके माफिक तो हम सब को एक साथ जान लेते हैं। गेहूँका ढेर लगा है तो उसमें अरबोंकी संख्यामें गेहूँके दाने होंगे तो हम उन समस्त गेहूँवोंको एक साथ जान रहे कि नहीं जान रहे? ऐसा तो नहीं है कि अब एक दानेको जाना अब दूसरेको अब तीसरे आदिको। एक जगह देखी गई बात सब जगह नहीं थोपी जा सकती। ज्ञान एक साथ जानता है, बहुतसे पदार्थोंका जानता है, अपने आपके स्वरूपको जानता है, ऐसा ज्ञानस्वरूप वाला मैं आत्मा हूँ ऐसा निर्णय रखिये।

आत्माकी ज्ञानप्रमाणताका प्रतिपादन- संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय आत्मानुभव है। अपने आत्माका जो विशुद्ध सत्य स्वरूप है वही अनुभवमें रहे तो कर्मबन्धन टूट सकता है और आत्मानुभव होता है ज्ञानानुभूतिसे। अपने आपके ज्ञानको यों तकिये कि यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञानसे अधिक मैं नहीं, मुझसे अधिक ज्ञान नहीं क्योंकि यदि ज्ञानसे बड़ा मैं आत्मा हो गया और ज्ञान रह गया छोटा तो उस ज्ञानसे बाहर जो मैं आत्मा हूँ उतना तो ज्ञानरहित हुआ ना? तो ज्ञानरहित आत्माका स्वरूप क्या? यदि आत्मासे बड़ा ज्ञान है तो जितना बड़ा ज्ञान हो गया वह आत्माके बिना हुआ, तो उस ज्ञानका स्वरूप क्या है? मैं ज्ञानमात्रहूँ। जो ज्ञान है सो मैं हूँ।

ज्ञानकी अबद्धस्पृष्टता— यह ज्ञान क्या किसीसे छुवा जा सकता है? यद्यपि यह आत्मा इस समयमें शरीरके बन्धनमें पड़ा हुआ है फिर भी शरीरको छुवे हुए नहीं है। जैसे कोई पुरुष अपने किसी मित्रके स्नेहमें बंध जाय,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ो इतना भी बंध गया कि जहाँ मित्र जाय वहीं वह जाय, मित्रके बिना रह न के खा न सके इतना स्नेहमें बंध गया इतनेपर भी यह बन्धन एक दूसरेमें प्रवेश कराने वाला बन्धन नहीं है, किन्तु वह अपने आपमें ही रहता हुआ बन्धन समझ रहा है। ऐसे ही यद्यपि हमारा आत्मा शरीरके बन्धनमें है, कर्मबन्धनमें है फिर भी चूंकि आत्मा है अमूर्त और कर्म व शरीर हैं मूर्त, अतः आत्माका शरीर और कर्म के साथ स्पर्श नहीं है, इतना विकट बंधन होकर भी आत्मा कर्म और शरीरसे रस्सी की गाँठकी तरह बंधा नहीं है। जैसे रस्सीका एक छोर दूसरे छोरसे गायके गलेमें लपेट कर बांध दिया तो बतावो रस्सीसे रस्सी बँधी है या गायके गलेसे रस्सी बंधी है ? कोई पुरुष रस्सीकी भांति गायका गला पकड़कर एक हाथमें रस्सी पकड़कर बांध दे ऐसा तो कोई नहीं करता। अरे वहां तो रस्सीमें रस्सी बंधी है लेकिन उस प्रसङ्गमें गाय परतंत्र हो गयी, कहीं गाय जा नहीं सकती। ऐसे ही समझिये कि बन्धन तो होता है पुद्गल पुद्गलमें ही, पर उसके विपाककालमें कल्पनासे अथवा इसमें स्वयं जो परिणाम उठते हैं उनसे यह ऐसा बंध गया कि शरीरसे बाहर कहीं जा भी नहीं सकता जीव। इतना शरीरसे आत्माका दृढ़ बन्धन है फिर भी शरीरको आत्माने छुआ नहीं है। शरीरसे आत्माका बन्धन नहीं है। केवल यह एक लगाव भरकी बात है। आप किसी मित्रके स्नेहमें बंध जाते तो बंधे कहां हैं ? आप ही स्वयं अपने आपमें स्नेह भाव उठाकर अपने स्नेहसे बंधे हैं, दूसरेसे नहीं। दूसरेसे अगर आप बंधे होते तो आप अपने आपको निकाल भी नहीं सकते थे, इस समय स्नेहसे बंधे हैं और दो ही मिनटमें हम बदल भी सकते। स्नेहको ऐसा त्याग सके कि जिसका निशान भी न रहे। यदि हम दूसरे जीवसे बंधे होते तो बंधे हुएमें हमारी कला काम न कर सकती थी। यह जीव स्वयं अपने ही भावोंसे बधता है। अपने ही भावोंके कारणसे छूटता है। इसको बांधने और छुटाने वाला अन्य कोई नहीं।

बन्धनके आधारकी मीमांसा– भैया ! बन्धन कहाँ है ? यह आत्मा है ज्ञानस्वरूप और ज्ञान है अमूर्त स्वतन्त्र स्वपरप्रकाशक। यही उसका काम है कि निरन्तर जानता रहे। इस ज्ञानमें अथवा आत्मामें अन्य कुछ नहीं है, लेकिन ऐसा न मान कर अपने आपकी सुध भूलकर केवल बाहरी पदार्थोंके प्रसङ्गमें अपना ग्रहण बनाये रहना यह तो है संसारमें बँधनेका उपाय, और जैसा यह मैं ज्ञानरूप हूँ, स्वपरप्रकाशक हूँ, अमूर्त हूँ, शाश्वत हूँ वहाँ अपने आपको जान लें और उसमें ही मग्न होनेका यत्न करें तो यही है संसारके संकटोंसे छूटनेका उपाय। देखिये संसारके बन्धनमें महती विपदा और विडम्बना है। संसारसे छूटनेमें आत्माकी समृद्धि है। तो बड़ी विडम्बना और बड़ी समृद्धि ये दोनों बातें केवल ज्ञानभावसे की जारही हैं। जब केवल भावमात्र से इतनी बड़ी भारी विपत्ति आ सकती है और केवल भावमात्रसे आत्माकी अनन्त समृद्धि प्राप्त हो सकती है तो अब उस भावको समृद्धि पानेके योग्य न बनायें और संकट सहने के लायक ही बनायें रहें तो इससे बड़ी खेदकी बात और क्या होगी ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ये समस्त वैभव समागम ठाठ-बाट जितनी देर रहते हैं उतनी देर भी दुःखी करते हैं। जब ये ठाठ-बाट न मिले थे तब भी इनके ख्यालमें इसे दुःखी होना पड़ा था और जब इसका वियोग होगा तो वियोगके समयमें भी इसे दुःखी होना पड़ेगा, और समस्त समागम परभाव है, परचीज है, भिन्न है, असार है, जिससे अपना कुछ वास्ता नहीं है, उसकी धुनमें पहिले भी कष्ट, मिलते समय भी कष्ट, बिछुड़ते समय भी कष्ट।

तत्त्वज्ञानधन बिना जीवकी भटकना – तत्त्वज्ञानके बलके समस्त बाहरी पदार्थोंसे अपनेको न्यारा अनुभवमें लिया जाय तो उस समय भी प्रसन्नता है। देखिये, जब भाव करने भरसे ही सारी चीजें प्राप्त कर सकते हैं तो उस भावको न करें इसमें कौनसा विवेक है? सदा अपनेको तत्त्वज्ञानके उजेलेमें रखना, समग्र परवस्तुवोंसे न्यारा अपने आपकी प्रतीति बनाये रहना और ऐसा ही सोचते रहना, प्रसन्नताका अनुभव करना यही है वास्तविक अमीरी। और अपने स्वरूपको भूलकर बाहरी पदार्थोंमें बड़प्पन मानना यही है वास्तविक गरीबी। लेकिन जैसे जुवारियोंके बीच बैठा हुआ जुवारी अपने हित अहितको भूल जाता है ऐसे ही मोही मायामयी, कुटुम्बी मित्र जनोंके बीच जब पड़े हुए हैं तो उनकी ही करतूत, परिग्रहके संचय, विषय-साधन आदिक प्रवृत्तियोंमें बड़प्पन माना जा रहा है लेकिन वास्तविकता क्या है कि ये कुछ अपने हैं नहीं, ये सब न्यारे हैं, अब भी न्यारे हैं और मरण करेगा तो यह न्यारा ही आत्मा यहाँका स्थल छोड़कर चल देगा। यहां सारभूत बात कुछ नहीं है। गिनते जावो हजार करोड़, बस कल्पना भर आपका साथ दे रही, किन्तु वैभव कुछ भी साथ नहीं दे रहा है। समग्र पर पदार्थ एक दूसरेसे हटनेका स्वभाव रखे रहते हैं। यह आत्मा पर वस्तुवोंका संचय कर रहा है। कहाँ तो इसका काम था केवल अपने ज्ञान-स्वरूपको देखे, इसमें जो कुछ आनन्द है, विलास है वह ही मेरा वैभव है, अन्यकी तो कहानी क्या कहें यह देह तक भी अपना नहीं है। ऐसा असहाय यह आत्मा अपनी शरण नहीं ढूंढ़ना चाहता। फुटबालकी तरह ठोकरें खा खाकर यहाँ वहाँ भागता फिरता है।

तत्त्वज्ञान बिना यत्र तत्र शरणकी गवेषणा – चित्तमें आया कि मुझे पुत्रसे शान्ति मिलेगी मगर पुत्रकी कषाय न्यारी, पुत्रका भाग्य जुदा, सो उस अन्य पदार्थमें अनुकूल परिणमन मिल नहीं सकता। पुत्र अपनी गर्जके कारण पिताके अनुकूल बोल बोलता है और इस ही स्नेहमें बसकर अनेक बातें ऐसी उपस्थित होती हैं कि दिल मसोसकर रह जाना पड़ता है। जब कभी उस पुत्रसे ठोकर लगी तो ख्याल आया कि ओह! यह लड़का मेरा शरण नहीं है। शरण तो मेरा वैभव होगा। अब धन वैभवकी शरणमें पहुंचा। उन वैभवोंके संचयमें भी ऐसी ऐसी घटनाएँ आती हैं ऐसे ऐसे धोखे बाजीके, छलकपटके प्रसङ्ग आते हैं कि निरन्तर दुःख सहता रहता है। देखिये तो मोहकी लीला कि जड़के निकट जाकर, चेतनोंके निकट जाकर अनेक पर

Version 1

पदार्थोंके निकट जाकर अपनेको सुखी बनानेकी कोशिश की, वहाँ दुःख ही दुःख मिलता लेकिन, दुःखी होनेपर भी उनके छोड़नेकी मनमें भावना तक नहीं जमती। जगतके सर्व पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप हैं। मैं उनका ख्याल रखता हूँ इस कारण वे पर बने हुए हैं, यह बात नहीं है, उनका स्वरूप उनमें है। वे अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यको सदा रख रहे हैं पुत्रादिकके आत्माके साथ उनका उनमें भाग्य लगा है। उन के अनुकूल उनकी सेवा खुशामद हो रही है।

ज्ञानस्वरूपके ज्ञानका महान पुरुषार्थ—यह कल्पना त्यागो कि मैं बाहर में कुछ कर रहा हूँ मैं जो कुछ कर पाता हूँ केवल अपने अन्दरमें ही कर पाता हूँ। अपने प्रदेशोंसे बाहर एक प्रदेश भी बाहर अणुमात्र भी मैं कुछ क्रिया नहीं कर सकता। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान ही आत्मा है। ज्ञानका जो स्वरूप है, प्रतिभास झलक जानन और वह जानन है स्व और पर के प्रकाशरूप, ऐसे स्वपरप्रकाशक केवल जानन मात्र अपने आपको बराबर निखरते रहना, यह उपाय है ज्ञाननुभुतिका। यह ज्ञान ही मैं हूँ, यह जानन ही मैं हूँ इतना भी विकल्प तोड़कर केवल उस रूप अनुभव करलें तो वहाँ होती है ज्ञानकी अनुभूति। और ज्ञानानुभूतिसे ही मिलता है आत्माका अनुभव जिसे अपने आपका परिचय करना हो कि मैं क्या हूँ तो वह सर्व बाह्य विकल्प छोड़कर अपने आपको सिर्फ ज्ञानरूप हूँ, ज्ञान हूँ, ऐसा जानन बनावे। ज्ञान शब्द कह कर जो प्रतिभास प्रकाश जाना गया उस रूप अपनेको स्वीकार कर लेना यही है ज्ञानानुभूति अथवा आत्मानुभवका उपाय। यही भाव तो वास्तविकता शरण है और इसी भावसे सैकड़ों भवोंके भी कर्म टूट जाते हैं। वर्तमानमें भी विकल्पोंका बोझ नहीं रहता है। तब मैं अपनेको निर्विकल्प अनुभवूं और संसारके समस्त संकटोंसे मुक्ति पाऊं।

ज्ञानस्वरूपके विनिश्चयकी अत्यावश्यकतापर प्रकाश—ज्ञानके स्वरूप का निर्णय करना कितना आवश्यक है सो आप सोच लीजिए। सम्यग्ज्ञान ज्ञानके स्वरूपके निश्चयपर निर्भर है। सम्यक् चारित्र ज्ञान स्वरूपकी अनुभूति ही निरन्तर किए जावो, इस पुरुषार्थपर निर्भर है यों कह लीजिए कि संसारके समस्त संकटोंसे छूट जाना, मुक्तिका प्राप्त कर लेना सब कुछ ज्ञानस्वरूपकी अनुभूतिपर निर्भर है। तो उस ज्ञानकी चर्चामें यदि बहुत कठिनाई दीख रही है तो भी सुनना चाहिए, करना चाहिए। कभी कुछ कठिन भी लगे तो भी जो हमारे संकट मोचनका असली उपाय है, अनेक यत्न करके बहुत विशेष दिमाग लगाकर भी उसे जानना चाहिए कि मैं यह ज्ञान किस स्वरूप हूं। दर्शन शास्त्रके इस प्रसंगमें यह कहा जा रहा है कि यह ज्ञान स्व और परके प्रकाशरूप बर्त रहा है, तन्मात्र मैं हूँ ज्ञानस्वरूप, ऐसा अनुभव करिये, इससे आत्म कल्याणका पथ, सुगमतासे प्राप्त होगा।

प्रासङ्गिक प्रकरण और ज्ञानमें ज्ञानकी क्रियाके विरोधकी आशंका—इस ग्रन्थमें प्रमाणका स्वरूप साङ्गोपाङ्ग सविस्तर कहा गया है। सर्व प्रथम ही प्रमा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

णका स्वरूप कहा गया कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निर्णय करे वह ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान स्वपरप्रकाशक होता है, स्वके भान बिना परका प्रकाशन बन नहीं सकता है यह प्रकरण चल रहा है अभी। इस सिद्धान्तके विरोधमें यहाँ यह अभिप्राय शङ्काकारका चल रहा है कि ज्ञान ज्ञानको नही जानता, ज्ञान तो जैसा है वैसा ही है। ज्ञान पर लड़ाई यह नहीं है। ज्ञानके स्वरूपके बारेमें यह दार्शनिक क्या सोच रहा है उस के आशयका खण्डन है। शङ्काकारका आशय यह है कि कोई भी पदार्थ अपनी क्रिया का प्रयोग अपने आपपर नहीं कर सकता। यह शङ्काकारका उसूल है कि चाकूकी क्रिया है काटना तो चाकू अपने आपको नहीं काट सकता। कुल्हाड़ीकी क्रिया है काटना, पर कुल्हाड़ी अपने आपको नहीं काट सकती। लाठीकी क्रिया है मारना, तो लाठी अपने आपको नहीं मार सकती। यह उसूल पेश करके शङ्काकार यह कह रहा कि ज्ञानकी क्रिया है जानना तो ज्ञान अपने आपको नहीं जान सकता। ज्ञानकी क्रिया का ज्ञान कर्म नहीं बन सकता।

ज्ञानमें ज्ञानक्रिया (जाननक्रिया) के विरोधकी आशङ्काका निराकरण उक्त आशङ्कापर उनसे पूछा जा रहा है कि ज्ञानकी क्रियाके ज्ञानमें जो कर्मत्वका विरोध किया वह अन्य ज्ञानकी अपेक्षासे कर्म नहीं है या स्वरूपकी अपेक्षा से कर्म नहीं है, इन दोनों विकल्पोंमेंसे क्या स्वीकार करते हो? यदि यह कहो कि अन्य ज्ञानका कर्म नहीं है तो ईश्वरके ज्ञानके कर्म हम नहीं बने। हमारा ज्ञान नहीं बना क्योंकि वह भिन्न ज्ञान है, तो कोई सर्वज्ञ नहीं रहा। दूसरी बात यह है कि अपने आत्मामें ही जो पहिले ज्ञान बना जैसे कि यह घड़ा है अब इस ज्ञानके अनन्तर ही जो दूसरा ज्ञान बना जो कि यह जान रहा है कि मेरा यह घटज्ञान सही है तो अपने आपमें ही उत्पन्न होने वाले प्रथम ज्ञानके बाद जो सामान्य ज्ञान उत्पन्न हो वह भी तो ज्ञानान्तर है। क्या उस ज्ञानके द्वारा भी यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं जाना जाता? यदि ऐसा है तो इन्हीं शङ्काकारके सिद्धान्तमें यह बताया कि अपने आपमें जो ज्ञान है उसके अनन्तर होने वाले ज्ञानसे यह प्रथम अर्थज्ञान जाना जाता है इसका विरोध हो जायगा। यदि ज्ञानान्तरकी अपेक्षासे कार्यका विरोध नहीं है तो स्वरूपकी अपेक्षासे भी विरोध न रहे तो ज्ञान स्वयं अपने आपको जान जाय उस प्रकारसे मैं जान रहा हूँ। जैसे ज्ञानक्रियासे भिन्न कर्म है—ज्ञानक्रिया मायने जानना। तो जैसे जाननक्रियासे विकल्प भिन्न है ऐसे ही जाननकी क्रियासे ज्ञानको भिन्न मान लिया जाय तो दोनोंको जानते जावो—ज्ञान भी, पदार्थ भी। और, न जाना जाय तो न जाने जायें तो दोनों भिन्न हैं।

ज्ञान और ज्ञानके कर्ममें विशेषण विशेष्यत्व दिखाकर जाननक्रियाका ज्ञानमें भेद दिखानेके लिये भेदकी आशङ्का और उसका समाधान—यदि यह कहो कि नहीं, करणभूत ज्ञान और बात है, कर्मभूत पदार्थ और बात है। ज्ञान तो विशेषण है मैं ज्ञानके द्वारा जानता हूं पदार्थ विशेष्य है जिसको जाना गया तो विशेषण ज्ञान करण होता और विशेष्य ज्ञान कर्म होता। उनमें फर्क है। यह भी केवल

Version 1

कहनेकी बात है। कोई ऐसा नहीं जानते कि मैं विशेषणसे विशेष्यसे विशेष्यको जानता हूँ या विशेषणको ? जैसे कहा नील कमल, इसमें नील है विशेषण कमल है विशेष्य। जैसे अच्छा पुरुष,अच्छा तो विशेषण है पुरुष विशेष्य है। तो नीलकमलमें नीलके ज्ञान से क्या कमल जाना गया है या नील रङ्ग। नीलके ज्ञानसे नील ही जाना गया और फिर यह बतलावो कि नील ज्ञान और कमल ज्ञान विशेष्य और विशेषण ज्ञान इन का विषय एक है या न्यारा न्यारा न्यारा ? अगर कहो कि एक है तो विशेष्य विशेषण कोई न रहे। यदि नील व कमल एक बन गया तो कुछ एक ही रहा, या तो नीला रहा या कमल ही रहा। यदि कहो कि इन दोनोंके विषयमें भेद है तो विशेषण ज्ञानसे अमुक विशेष्य जाना जाय यह नियम न बनेगा। कर रहे घटका ज्ञान और फल मिल जाय कपड़ेके ज्ञानका, किन्तु ऐसा होता ही नहीं। कोई चीड़की लकड़ीपर कुल्हाड़ी मार रहा हो और कट जाय सागौनकी लकड़ी ऐसा भी कहीं होता है क्या ? यदि कहो कि धुवां उठ रहा और जाना आग तो भिन्न भिन्न चीज है ना और वहाँ नियम बन गया, धुवांके ज्ञान करनेसे अग्निका ज्ञान कर लिया। तो कहते हैं कि दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ तो क्रमसे ज्ञान हो रहा है। पहिले धुवांका ज्ञान हुआ फिर अनुमान किया अग्निका, पर नील कमलमें तो ऐसा नहीं है कि पहिले नीलको जाना फिर कमलको। दोनों एक साथ जाने जा रहे हैं। विशेषण और विशेष्य दोनों एक साथ जाने जाते हैं तब उसकी तारीफ मालूम होती है। पहिले विशेषण जाना पीछे विशेष्य जाना तो कुछ अर्थ न निकलेगा।

ज्ञानके अक्रमज्ञातृत्वकी अबाधता - यदि ऐसा कहो कि विशेषण विशेष्य दोनोंका ज्ञान क्रमसे होता, मगर शीघ्रताके कारण यह विदित हो गया कि एक साथ जान लिया। जैसे १०० पान एक सुईसे बड़ी तेजीसे छिद जायें तो छिदे क्रमसे हैं पर लगता है कि वे एक साथ छिद गए हैं। यों दृष्टान्त देकर प्रत्यक्षसिद्ध बातका अपलाप करोगे तो किसीको भी एक रूपमें नहीं देख सकते। वहाँ भी कह दो कि यह भी क्रमसे है और जो बात प्रत्यक्षसे जच रही उसको दृष्टान्त देकर क्या निषेध करते, वहां दृष्टान्त नहीं लागू होता — अन्यथा सफेद शङ्ख पीलिया रोग वालेको पीला दिखता है तो सोनेका क्या फल होगा ? जो बात प्रत्यक्ष है वह सही है. उसमें युक्तियां नहीं चलती है। अग्नि गर्म लगती है तो सब चीजोंको गर्म मान लो। जलको भी गर्म मान लो। तो मूर्त चीजमें तो यह सम्भव हो सकता कि उनमें क्रमसे कार्य हो रहा, पर अमूर्त जो ज्ञान है, जो अप्राप्त अर्थको ग्रहण करता है वहां क्रमका क्या कारण ? ऐसा भी नहीं कि ज्ञान पदार्थमें जा जा कर छुये फिर ज्ञान हो। सो यदि एक ज्ञानमें वे सब चीजें एक साथ आ जायें तो उसमें कौनसा विरोध। ज्ञानकी प्रकृति है जानना किसे जानना ? जो हो उसे जानना। तो चाहे १० वस्तु हों चाहे एक हो चाहे अनगिनते हों, जो हैं उनको ज्ञान जान गया। हम आप संसारी जीव जो नहीं जान पाते हैं समग्र वस्तुवोंको तो यह ज्ञानके स्वभावका अपराध नहीं है किन्तु उपाधि और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आवरण इस प्रकार है कि उनके कारण ज्ञान अपने पूरे काम नहीं कर पाता। पर ज्ञानमें जो स्वभाव है वह स्वभाव तो सदैव रहता है। ज्ञानका स्वभाव है जानना। यदि अपने जाननेको नहीं जान रहा कि यह है जानना, उसका भान नहीं है तो पदार्थ का भी भान नहीं हो सकता। ज्ञान स्व और परका निर्णय करने वाला होता है ऐसा माननेपर ही प्रमाणकी व्यवस्था बन सकती है।

ज्ञानकी अबाध गतिमें मन द्वारा प्रतिरोधकी आशङ्का और उसका समाधान—यदि यह कहो कि मन इन्द्रियोंको अथवा इन्द्रियोंसे एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता इसलिए क्रमसे ज्ञान होता है, क्योंकि इन्द्रिय एक दूसरेसे जुदी जुदी जगहमें हैं। जैसे ये सब पान भी अपनी अपनी जगहमें हैं, सूईसे छेदनेपर क्रम क्रमसे छिदते हैं ऐसे ही यह मन इन इन्द्रियोंको ग्रहण करता है तो क्रमसे ही करता है। तो बात यों ठीक नहीं बैठ सकती कि पहिले मनकी सिद्धि करलो कि तुम्हारे यहाँ मन कुछ चीज है या नहीं? मन सिद्ध हो तो एक साथ ज्ञान होनेका क्रम सिद्ध कर लो। तुम्हारे मन है कि नहीं? यदि कहो कि मन है तो ये चक्षु आदिक इन्द्रिय अन्य कारणोंके मिल जानेपर भी जब मनके बिना काम नहीं करता है तो क्रम वाला मन अवश्य है अनुमानसे सिद्ध हो जायगा। जैसे बसूलेसे कोई बढ़ई काठ छेदता है तो क्रमसे क्यों छेदता है? वह बसूलेका करण जो हाथ है वह क्रमसे चलता है। ऐसे ही ये इन्द्रियाँ क्रमसे क्यों जाना करती हैं? ये इन्द्रियाँ मनके आधीन हैं और मनमें क्रम पड़ा है अतएव यह सब क्रमसे कार्य करता है। यह बात यों असिद्ध है कि एक साथ ज्ञान हो रहा। कोई चावलोंका ढेर रखा है, उन सबको एक साथ जान लिया, वहां ऐसा तो नहीं है कि क्रम क्रमसे एक एक चावलको जाना। अब उसमें क्रम सिद्ध करना और उससे मनकी सिद्धि करना यह बात असङ्गत है।

प्रत्यक्षसिद्ध स्वसंविदित ज्ञानके अपलापका अनौचित्य—कोई यों अनुमान बनाले कि अग्नि ठंढी होती है, क्योंकि पदार्थ होनेसे। जो जो पदार्थ होते हैं वे ठंडे होते हैं, जैसे पानी। तो यह अनुमान सही है क्या? न माने कोई तो चिमटेसे आग पकड़कर धर दे तो पता पड़ेगा ओह! यह तो गर्म है। तो प्रत्यक्षसे जाने हुए पदार्थोंमें युक्तियां लगाना यह तो असङ्गत बात है। सबसे प्रबल प्रत्यक्ष होता है। जानते जारहे हैं हम और उस ही जाननेमें सन्देह बनाते जा रहे, सन्देह बनानेपर जिस जिस रूपसे हम जान रहे हैं उसका प्रयोग खुदमें होता रहता है चुपचाप बिना विषय मुद्राके क्या अपने आपमें सोच लिया जाय? जो आप सोचेंगे वह तो आपको विदित है दूसरेको नहीं मालूम पड़ा। तो जानना प्रत्येक ज्ञाता पुरुषको विदित रहता है। ज्ञानका काम जानना है, सो वह अपनेको भी जानता और परपदार्थको भी जानता। वह तो एक चैतन्य प्रकाश है।

सर्व पदार्थोंमें आत्माकी सारभूतता—जगतमें जितने भी पदार्थ हैं उन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

समस्त पदार्थोंमें सारभूत पदार्थ तो है आत्मा । ६ प्रकारके पदार्थ हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल । इन ६ प्रकारके पदार्थोंमें सारभूत पदार्थ जीव हैं क्योंकि इसके ज्ञान है । जीवके प्रयोजन हैं और जीव ही व्यवस्था करता है । यह कल्पना कर लो कि जगतके सब पदार्थ तो होते, पर एक जीव द्रव्य न होता तो पदार्थ है यह पता कौन करता । और उनकी फिर तत्त्वचर्चा तीर्थ प्रवृत्ति धर्म कहां होते ? फिर तो शून्य ही था । प्रथम तो कुछ हो नहीं सकता कि जितने पुद्गल आप को नजर आ रहे हैं खम्भा चौकी चटाई इत्यादि ये सब पहिले जीवसे सम्बद्ध थे तब इनका यह रूप बना । यह काठ बन कैसे गया ? कभी यह बहुत छोटा अंकुर था फिर उसका विशाल रूप हुआ, पक गया । अब आज यह रूप है तो इस प्रकार काठ रूप बननेका साधन क्या रहा ? जीवका समागम । पेड़में जीव आया अथवा जीवने उन अणुवोंको ग्रहण किया जिससे यह पेड़ पर्याय बनी । यह पेड़ पर्याय बनी तो ये काठ मिल गए । कपड़ा भी कपाससे मिला वह भी जीव है । चटाई घाससे बनी वह भी जीव है । ये खम्भे पत्थरके बने वे भी एक जीव थे । जीवके सम्बन्धके विना किसी भी पदार्थका विस्तार बन सकता है क्या ? जीव न होता तो ये पदार्थ भी कहाँसे होते ? न जीव रहा न पुद्गल रहा, फिर धर्म अधर्म क्या चीज रहे । धर्मद्रव्य उसे कहते हैं कि जो जीव पुद्गलके चलनेमें सहायक है । लेकिन जीव पुद्गल तो है ही नहीं, धर्म क्या चीज रही ? ठहरनेका कारण क्या रहा ? अधर्म कुछ नहीं । जब ये कुछ पदार्थ न रहे तो काल द्रव्यका क्या प्रयोजन ? कालका प्रयोजन ? कालका प्रयोजन था जीव पुद्गल आदिक पदार्थोंमें परिणमन होना । है ही नहीं परिणमनका प्रयोजन क्या ? जब ये सब न रहे फिर किस किसके लिए किसको बसायें ? लो आकाश भी न रहा । समस्त पदार्थोंमें सारभूत जीव पदार्थ है । और जीवमें भी सारभूत ज्ञानस्वरूप है । जिसकी दृष्टिसे भव्यजन कर्म कलङ्कका उच्छेद कर रहे हैं वह है ज्ञानस्वरूप, सारभूत । जितने भी सिद्ध हुए हैं वे सब एक इस ज्ञान स्वरूपकी भावनासे हुए हैं ।

धर्मपालनके आधारभूत ज्ञानस्वभावका निर्णय· लोग कहते हैं धर्म करो । हाथ पैर चलानेसे धर्म नहीं होता, यद्यपि निम्न परिस्थिति में हाथ पैर चलाना, तीर्थपर जाना, पूजन करना, बंदन करना, सत्संग करना गुरुसेवा करना ये सब साधन भूत हैं परिणामोंको विशुद्ध बनानेके लिए, लेकिन ये स्वयं धर्म नहीं हैं । धर्म तो धर्म की दृष्टि है, धर्म है वस्तु स्वभाव । आत्माका स्वभाव धर्म है । आत्माका स्वभाव क्या है । आत्माका वह स्वभाव होगा जो आत्मामें अनादि अनन्त अहेतुक रहा करता है । अब इस युक्तिसे परख कर लीजिए । यह आत्मा क्रोध करता है क्या, क्रोध करना स्वभाव हैं क्या ? स्वभाव नहीं है, क्योंकि यह क्रोध अनादि अनन्त नहीं है, आध मिनटको हुआ, खतम हो गया, इसी प्रकार ,मान माया लोभ ये भी आत्माके स्वभाव नहीं हैं । विषय कषाय भोग उपभोग वितर्क विचार ये सब आत्माके स्वभाव नहीं है, किन्तु आत्माका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

स्वभाव है ज्ञान। ज्ञान गुण नष्ट नहीं होता, इसको दो दृष्टियोंसे विचारें, एक तो ज्ञान का परिणमन सदैव कुछ न कुछ रहेगा। जैसे जब क्रोध है तो मान माया, लोभ आदिक नहीं हैं, वे सब एक साथ निरन्तर नहीं रहते, पर ज्ञान जानन निरन्तर बना रहता है। क्रोध करो वहाँ भी जानन चलता रहता है। यदि जानन न चलता होता तो क्रोध बने कैसे ? अजान चीजमें क्रोध तो बनता नहीं, इस चौकीको कोई छेदे काटे तो बताओ वह क्रोध कर सकती है क्या ? नहीं कर सकती। जहाँ जाननका प्रवाह चलता हो वहाँ ही क्रोधादिक हो सकते हैं। तो जब कोई क्रोध करता हो,न माया, लोभ करता हो तो भी वहाँ ज्ञान निरन्तर चल रहा है यह तो बतायी परिणतिकी बात। और जिसका परिणमन निरन्तर चला ही करे चाहे संसारी हो चाहे सिद्ध बन जाय तो समझिये कि परिणमनका स्वभाव उसमें शाश्वत है।

धर्मपालनका अर्थ—आत्माका शाश्वत स्वभाव, स्वरूप है ज्ञान। ज्ञान सारभूत है। धर्मपालन करो ! ऐसा कहनेपर क्या करना चाहिये ? इसकी समझ बनायें। मेरा धर्म है ज्ञानस्वभाव। उस ज्ञानस्वभावकी दृष्टि कर लेना कि मैं ज्ञान-स्वभावरूप हूँ, यह मैं हूं, इस प्रकारकी प्रतीति करना, ऐसा ही उपयोग बनाना और ऐसा ही ज्ञान बनानेमें लीन रहना यह सब है धर्मपालन। जैसे कोई कहे ऊपर जावो। उसका अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है ऊपर जाकर देखो ! इसी प्रकार कोई कहे कि कि धर्मपालन करो ! तो इसका अर्थ है कि अपने आत्माका स्वभाव जो ज्ञान है वह धर्म है, उस धर्ममात्र अपनेको मान लो। मैं ज्ञानस्वरूप हूं, ऐसा अपने उपयोगमें केवल ज्ञानमात्र अपनेको परखलें, मानलें, यही है धर्मपालन।

ज्ञानस्वरूपके निर्णयपर धर्मपालनकी निर्भरता—कोई पुरुष छोटी परि-स्थितिमें धर्मपालन करे, कोई योगीश्वर ऊँची परिस्थितिमें धर्मपालन करे, सबमें धर्म-पालन एक ढङ्गसे ही होता है। ऐसा नहीं है कि गृहस्थ लोग तो हाथ पैर चलाकर धर्मपालन कर लेते और योगीश्वर विविक्त तत्त्वका चिन्तन करके धर्मपालन करते हैं। सबके धर्मपालनकी विधि एक है, जिसको धर्म मिलता है उसको एक ही प्रकारसे मिलता है, ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे धर्म मिलता है। गृहस्थने इस धर्मकी प्राप्ति के लिये पूजा, वंदना, सामायिक, यात्रा, सत्सङ्ग, गुरुसेवा, दान आदिक बहुत बहुत यत्न किए और और उन यत्नोंके बीचमें विविक्त ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि बनी तो जो ज्ञान स्वरूपमें यह मैं हूँ, ऐसा प्रत्यय हुआ उतना ही धर्मपालन है और बाकी सब है बाहरी साधन। एक झलक मात्रमें योगीश्वर अपने आपमें उस धर्मकी दृष्टि कर लेते हैं और उनके होता है बहुत बहुत धर्मपालन। ऐसे ज्ञानस्वरूपका यथार्थ निर्णय कर लेना आवश्यक है धर्मपालन ज्ञानस्वरूपके आधारपर ही हुआ करता है इस कारणसे ज्ञान-स्वरूपके निर्णयमें हम अधिकसे अधिक अपना उपयोग लगायें और उसका निर्णय करें, जब निर्णय होगा तब एक दम हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह जैसा कि वह स्पष्ट

http://sahjanandvarnishastra.org/

विदित होता है ऐसे ही यह ज्ञानस्वरूप यह है, यह मैं हूँ यह है प्रकाश, यह है ज्योति, इस ज्ञाताको यह सब स्पष्ट हो जाता है, वह ज्ञान है स्वपरप्रकाशक, केवल परप्रकाशक हो और अपने आपको न जाने तो वह ज्ञान परको भी नहीं जान सकता।

ज्ञानको अन्यज्ञानवेद्य माननेपर आत्मा और मनकी असिद्धि—जो लोग ज्ञानको अन्य ज्ञानके द्वारा वेद्य समझते हैं अर्थात् किसी पदार्थकी जानकारी की तो उस जानकारीकी जानकारी अन्य ज्ञानके द्वारा होती है ऐसा जो पक्ष करते हैं उनके यहाँ न तो आत्माकी सिद्धि हो सकती है और न मनकी सिद्धि हो सकती है। कदाचित् सिद्धि भी मानलें तो आत्मा और मनका संयोग सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि संयोग हुआ करता है दो पदार्थोंका सो या तो सर्वात्मक रूपसे होता है या एक देश रूपसे होता है, तो आत्मा और मनका सम्बंध यदि एक देशसे हो तो निरंश हैं ना दोनों, तब वह सांश बन जायगा। यह सिद्धान्त मनको निरंश मानता है अर्थात् मन इतना छोटा कि जिसमें दो प्रदेश भी नहीं हो सकते। तो जब एक देश रूपसे संयोग माना तो अंश सिद्ध हो जायगा और सर्वरूपसे आत्मा और मनका संयोग माना जाय कि पूरा आत्मा पूरे मनको पूर्ण संयोग होता है तो इसके मायने यह हुआ कि न आत्मा रहा न मन। यदि ऐसा कहो कि जिस आत्मामें मन संयुक्त है उस ही आत्मामें ज्ञान पैदा करता है तो आत्मा सर्वव्यापक है तो मन सब जगह सब दिशावोंमें सुख आदिकको पैदा करदे फिर प्रत्येक प्राणीमें जुदा जुदा मन मानने की क्या जरूरत।

ज्ञानव्यवस्थामें मनकी प्रतिनियतताकी असिद्धि—यदि यह कहो कि जो मन जिस समवाय ज्ञानका कारण बने वह मन उसमें संयुक्त होता है तो यह सिद्ध करलो कि मन अलग अलग अलग आत्मावोंमें सम्बन्धित है। इस आत्माका यह मन है, इस आत्माका यह मन है, यह क्या इस कारण सिद्ध करोगे कि जीवोंमें आत्माके द्वारा उपयोग किया गया है या उसमें संयोग है या आत्माके भाग्यसे प्रेरित है या उस आत्मा से प्रेरित है। किस कारणसे तुम मनको आत्माका सिद्ध करते हो ? कार्य तो है नहीं, क्योंकि आत्मा नित्य है। नित्यका कोई कार्य नहीं होता। जिसका कार्य हो वह अनित्य है। वस्तु नित्यानित्यात्मक होते हैं। जो अनित्य अंश है वह कार्य है, जो नित्य अंश है वह स्थायी उपादान कारण है लेकिन स्याद्वादके सिवाय अन्य किसीने पदार्थको नित्यानित्यात्मक नहीं माना। चूंकि ये सर्वथा नित्य मानते हैं तो कार्यका योग नहीं बन सकता और उपयोग नहीं बन सकता और उपयोग भी कुछ नहीं। जो अनाधेय है, जिसको प्रकट नहीं किया जा सकता उसमें उपयोग क्या है ? यदि कहो कि अदृष्ट से ही सिद्ध कर लो कि यह मन इस आत्माका है क्योंकि आत्मासे प्रेरित हुआ है। तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा तो नित्य है सो न यह सिद्ध होता कि यह मन इस आत्माका है और फिर यह सिद्ध न हो सकेगा कि मन जाना करता है जिससे तुम ज्ञानके स्वव्यवसायीपनेका निषेध कर सको।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

ज्ञानको स्वसंविदित न माननेपर स्वाभिमतव्याघात और भी देखिये ज्ञान है तो अपने आपका निश्चय करने वाला भी है। यदि इसे स्वव्यवसायी न मानोगे केवल ऐसे ही ज्ञानका स्वरूप समझो कि ज्ञान मात्र परपदार्थका ही प्रकाश करता है तो ईश्वरका भी ज्ञान क्या अपने आपको नहीं जानता ? यदि वह स्वसम्विदित नहीं है, तो ऐसा जो तुमने माना है— जगतमें जितने भी सत् और असत् पदार्थ हैं वे सब किसीके एक ज्ञानके सहारे हैं और दृष्टान्त भी तुमने दिया है कि जैसे ५ अंगुली हैं तो ये सब अंगुली किसी आधारभूत मुट्ठीके सहारे हैं ऐसे ही विश्वमें अनेक पदार्थ हैं, सत् हैं और प्रागभाव आदिक असत् हैं ये सब किसी ईश्वरके ज्ञानके सहारे हैं। सो जब ईश्वरके ज्ञानको स्वसम्विदित नहीं माना तो सहारा क्या रहा ? उसमें तो दोष आता है और स्वसंविदित ईश्वरके ज्ञानको मान लोगे तो तुमने जो यह हेतु दिया है कि ज्ञान अन्य ज्ञानके द्वारा जाना जाता है क्योंकि प्रमेय होनेसे यह हेतु दूषित हो जायगा इस कारण सीधा सही मान लो प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका ऐसा ही प्रकाश है कि वह अपने आपको भी जानता है। यदि ऐसा कहोगे कि नहीं,हमारे ज्ञान की अपेक्षा हम कह रहे हैं कि ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो इस सम्बन्धमें पहिले बहुत निराकरण किया गया है। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि अपने आपको झलकमें ले उस ही के साथ साथ परपदार्थकी भी झलक करे। जैसे दीपक, सूर्य अपने आपको भी प्रकाशमान निरन्तर किए रहता है और उसके कारण परपदार्थ भी प्रकाशमें आते रहते हैं।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमें प्रथम ज्ञानका सद्भाव होते संते या सद्भाव न होते संते दोनों पक्षोंमें द्वितीय ज्ञानकी असिद्धि – अच्छा, यह तो बतलाओ कि तुम्हारा जो यह मंतव्य है कि पदार्थको जानने वाला ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है तो क्या प्रथम ज्ञानके होते संते दूसरे ज्ञानसे जाना जाता है या प्रथम ज्ञान नहीं रहा तब द्वितीय ज्ञानसे जाना जाता। यदि प्रथम ज्ञानके होनेपर भी द्वितीय ज्ञानसे जाना जाय तो एक साथ दोनों ज्ञान बन गए हममें। एक साथ ज्ञान हुआ नहीं करता, यदि प्रथम ज्ञान मिट गया तब द्वितीय ज्ञानसे जाना कि वह ज्ञान ठीक है तो असत्का ग्रहण करनेपर फिर जिस चाहे असत् पदार्थको जान जाय, इस कारण यह मानना ठीक नहीं है कि हम अपने ज्ञानको समझनेके लिये एक नया ज्ञान उत्पन्न करें, किन्तु पदार्थको जाननेके साथ ही साथ पदार्थ भी जाना जाता है और वह ज्ञान भी जान लिया जाता है। और फिर यह बतलावो कि दूसरा ज्ञान पैदा हो गया पहिले ज्ञानको जाननेके लिये फिर दूसरा ज्ञान भी हमारा प्रत्यक्ष है या नहीं ? यदि द्वितीय ज्ञान हमारा प्रत्यक्ष है तो प्रथम ज्ञानको ही प्रत्यक्ष क्यों नहीं मान लेते ? सीधी बात जान लो कि ज्ञान भी प्रकाशात्मक है कि पदार्थको जाननेके ही साथ अपने आपको भी जान लेता है। यदि वह प्रत्यक्ष है तो अपने आपको प्रत्यक्ष है द्वितीय ज्ञान या अन्य ज्ञानसे ? यदि अपनेको प्रत्यक्ष है तो प्रथम ज्ञान ही प्रत्यक्ष बन जाय। यदि अन्य ज्ञानसे प्रत्यक्ष

है तो उस ज्ञानको जाननेके लिए तीसरा ज्ञान चाहिए। तीसरेको जाननेके लिए चौथा चाहिए। यों ज्ञान ही पैदा करता रहा, पदार्थका ज्ञान स्पष्ट हो ही नहीं सका। यदि कहोगे कि नहीं, द्वितीय ज्ञान अप्रत्यक्ष है, तो भाई! जो ज्ञान स्वयंके भानमें नहीं है वह द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञानको कैसे जान सकता है? स्वयं अप्रत्यक्ष हो, उस ज्ञानान्तरके द्वारा, दूसरे आत्माके ज्ञानके द्वारा हमारा ज्ञान नहीं जाना जा सकता। इसी तरह हमारे दूसरे ज्ञानके द्वारा प्रथम ज्ञान नहीं जाना जा सकेगा। इस कारण ऐसा ही ठीक है कि ज्ञान खुदको प्रकाशित करता हुआ अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करता रहता है।

ज्ञानकी भावस्वरूपता—ज्ञान एक भावस्वरूप चीज है। अपने अपने ज्ञान की ओर दृष्टि देकर निरखो कि ज्ञानका स्वरूप क्या है? क्या ज्ञानमें रूप, रस, गंध, स्पर्श है? किसी रसीले पदार्थको खाकर कुछ रसीले पदार्थोंका ज्ञान तो हो जायगा, रसका ज्ञान तो हो जायगा पर ज्ञानमें रस न कहेंगे। जैसे हम बाहरी खम्भा चौकी आदिक पदार्थोंको देखकर जान तो जाते हैं पर हमारे अमूर्त ज्ञानमें कहीं ये खम्भा चौकी वगैरह अड़ तो नहीं जाते। ज्ञान तो ज्ञानकी जगह रहकर भी अपने ही प्रकाश से पदार्थोंको जानता रहता है। ज्ञानमें रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं। ज्ञान तो एक भावात्मक तत्त्व है। जान गए। देखिये कितना सूक्ष्म है यह ज्ञान। जिससे सूक्ष्म और कुछ नहीं बताया जा सकता।

ज्ञानकी सूक्ष्मताका कथन—एक आम सिद्धान्त यह है कि मोटी चीज सूक्ष्म चीजमें समाती है यह सुननेमें कुछ उल्टा सा लग रहा होगा। लोग तो यों कहेंगे कि बड़ी चीजमें हल्की चीज समा जायगी। घड़ा बड़ा है उसमें चने समा जायेंगे। पर यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि हल्केमें बड़ी चीज समाती है। सूक्ष्ममें स्थूल चीज समाया करती है। जैसे यह पृथ्वी है। इससे मोटी चीज कुछ और तो नहीं है पर यह पृथ्वी पानीमें समायी हुई है। पृथ्वीको घेरकर पानी रहता है। आज कलके वैज्ञानिक भी मानते हैं कि पृथ्वीके चारों ओर पानी है और जैन सिद्धान्त भी कहता है कि जम्बूद्वीपके चारों ओर भले ही उसके आगे द्वीप है पर उसके आगे फिर समुद्र है। यों असंख्याते द्वीप समुद्रोंके बाद आते रहते हैं पर अन्तमें समुद्र ही है जिस का नाम है स्वयंभूरमण समुद्र। जितना बड़ा स्वयंभूरमण समुद्र है उससे भी कमें असंख्याते द्वीप और समुद्र हैं अर्थात् पानीका अंश बहुत ज्यादा है। पृथ्वीसे पानी सूक्ष्म है सभी जानते हैं और पानीसे सूक्ष्म है हवा। तो पानी जहां तक है उससे भी आगे हवा चली गई। पानीसे आगे हवा है। तब तो पानी सधा रहता है। तीन लोक के भी अन्तमें चारों ओर वातवलय है। तो हवामें पानी पृथ्वी आदि समाए हुए हैं। हवासे सूक्ष्म है आकाश, सब जानते हैं, हवाको ट्यूबमें भरकर चाहे जहाँ ले जावो। क्या रबड़में भरकर आकाशको भी ले जा सकते हैं? नहीं। तो हवासे भी सूक्ष्म है

आकाश, और, आकाशसे भी सूक्ष्म है ज्ञान, ज्ञानमें सारा आकाश समाया है। पृथ्वी जल, वायु, आकाश ही नहीं बल्कि भूतकालकी समस्त पर्यायें और भविष्यकालकी समस्त पर्यायें समाई हुई हैं। यों आकाशसे भी सूक्ष्म ज्ञान है। तो इस ज्ञानसे सूक्ष्म जगतमें और कुछ नहीं है।

सूक्ष्म और सारभूत ज्ञानस्वभावकी महिमा शालिता—रूपादिकसे रहित, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म ज्ञानका स्वरूप प्रत्येक आत्मावोंमें पाया जाता है। वह यद्यपि उपाधिके सम्बन्धसे क्षीण शक्ति वाला है, अधिक जान नहीं सकता, लेकिन ज्ञानमें स्वभाव तो ऐसा पड़ा हुआ है कि वह समस्त विश्वको जान जाय। स्वभावका अपहरण नहीं होता और फिर आत्माके ज्ञान स्वभावका जो कुछ दवाव है, आवरण है, शक्तिकी हीनता है वह निश्चयसे अपने आपके विकल्पोंके कारण है। भला बुद्धिमान पुरुष भी जब भी रागद्वेषसे ग्रस्त हो जाता है तो उसकी बुद्धि काम नहीं करती। हुआ क्या ? ज्ञान हर लिया गया। किसने हरा ? किसी पर पदार्थने नहीं, किन्तु एक अपने आपके विकारने रागद्वेष मोह भावने। तो अपने ही विकारोंसे यह ज्ञान अविकसित है। इसपर आवरण पड़ा हुआ है, सर्वको जान नहीं सकता, लेकिन ज्ञानस्वभाव तो जानन स्वभावकी महिमाको नहीं छोड़ता।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमें धर्मपालनकी असाधना—जितने भी धर्मपालन के लिये उपाय किए जाते हैं उन समस्त उपायोंका प्रयोजन अपने स्वभावका विशुद्ध विकाश करना है। किस लिये धर्म पालन किया जा रहा है ? मेरा धन बढ़ जाय ऐसा आशय लेकर कोई धर्म पाले, व्रत, संयय, तपश्चरण करे व बड़े ऊँचे साधन भी बनाये लेकिन यह तो बतावो कि उसके पाप लग रहा है या धर्म हो रहा है। जिसका आशय ही अपवित्र है, सांसारिक समागम पानेके लिये जो धर्मकी प्रवृत्ति कर रहा है उसके पाप हो रहा है धर्म नहीं, क्योंकि आशयके आधारपर सब व्यवस्था चला करती है। व्यवहारमें भी न्यायालयोंमें भी जज लोग आशय देखकर दण्ड दिया करते हैं। किसी मुकद्दमेमें यह साबित हो जाय कि यह पुरुष अमुकको मारना चाहता था और मारनेके लिये इसने यत्न किया लेकिन यत्न चल न सका, विफल हो गया। दूसरा न मर सका तिसपर भी जज एक वही दण्ड देता है जैसा करीब करीब दण्ड मारनेपर दिया जाता अथवा चाहे कुछ कम करले क्योंकि अनर्थ नहीं बन सका; चाहे आजीवन कारागार दे दे, पर अपराधी माना जाता है, जिसका अभिप्राय खोटा है वह पुरुष अपराधी है। तो विकार भावसे अपराध होता है और ज्ञानका आवरण होता है तो ये समस्त ज्ञान जो हम आपके प्रकट नहीं हो पाते हैं उसका कारण है विकार, रागद्वेष मोह, ये ही दुःखकी खान है। जब तक अपना शुद्ध विकाश नहीं है तब तक क्लेश ही है। देखिये तो सर्व पदार्थ भिन्न हैं हमारे स्वरूपसे अत्यन्त जुदे हैं। चाहे वह कोई जीव पदार्थ हो चाहे अजीब हो, सब मेरे स्वरूपसे जुदे हैं। लेकिन स्वरूपसे

जुदे परपदार्थको, स्वरूपसे जुदे आत्मामें उठने वाली तरङ्गोंको यदि कोई आत्मीय मान ले तो अंदाज लगावो कि कितना अधिक उस व्यक्तिमें मोह है। जो अनहोनी बातको होनी करनेका विकल्प कर रहा है।

स्वतन्त्र ज्ञानको अस्वसंविदित माननेपर आत्मा और मनकी सिद्धिकी अशक्यता ज्ञान स्वतन्त्र है, किसीके दबाये नहीं दबाया जा सकता। कोई पुरुष क्रुद्ध होकर इस शरीरको पकड़ ले, बाँध ले, पर ज्ञानको कोई बाँध नहीं सकता। शरीर जकड़ा रहेगा, पर किसीकी यह करतूत है क्या कि किसी भी पुरुषके ज्ञानको कोई दन्ड दे दे। अच्छा, वैसा ज्ञान चले और प्रकार न चले, इस प्रकारका नियन्त्रण कोई पुरुष नहीं कर सकता। ज्ञानभाव स्वतन्त्र भाव है। जैसे गणतन्त्रके जमानेमें वोट देनेमें प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है, किसीपर कोई कितना ही दबाव दे, तुम्हें हमारा ही वोट देना होगा! और वह कहे जी हां, हम तुम्हारा ही वोट देंगे। इतनेपर भी वोट देते समय वह स्वतन्त्र है, वह चाहे जिसे वोट दे। तो यहाँ फिर भी दबाव है और परतन्त्रता है लेकिन ज्ञानभावमें तो किसी भी प्रकारकी परतन्त्रता नहीं है। हम ही स्वयं रागद्वेष मोह भावसे पीड़ित होकर अपनेको परतन्त्र बना डालते हैं। आत्मा है, ज्ञानरूप है, उपाधिका सम्बन्ध है। यह ज्ञान कितना विषय इच्छाको सहयोग दे रहा है जब उपाधि टूट जायगी तो यह ज्ञान सीधा विषयका प्रकाश करने लगेगा। जो लोग ज्ञानको दूसरे ज्ञानके द्वारा जाने गए मानते हैं उनके न आत्माकी सिद्धि है न मनकी। न यह सिद्ध हो सकता कि यह मन इस आत्माका है और न भाग्य सिद्ध हो सकता कि यह भाग्य आत्माका है।

सर्व ज्ञानोंमें स्वपरप्रकाशकताका स्वरूप—ज्ञानके भेद अथवा परिणमन जैन सिद्धान्तमें ५ माने गए हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो कोई लोग केवलज्ञानके बारेमें तो झट कह देंगे कि वह ज्ञान प्रभुका है, सर्वज्ञदेवका है, उसमें तो स्वपरप्रकाशक शक्ति होगी लेकिन जो ज्ञान हमपर बीत रहा है जिसे हम अनुभव करते हैं उस ज्ञानको कह देंगे कि मेरा ज्ञान उस ही ज्ञानके द्वारा नहीं जाना गया, अन्य ज्ञानके द्वारा जाना गया, लेकिन ज्ञानमें जो स्वभाव है वह सर्वत्र एक रहेगा। चाहे सिद्ध भगवानका ज्ञान हो, चाहे संसारी प्राणियोंका ज्ञान हो, ज्ञानमें प्रकृति है स्वपरप्रकाशकताकी। वह प्रकृति, वह स्वभाव समस्त ज्ञानोंमें रहेगा। यद्यपि मतिज्ञान उत्पन्न होनेमें इन्द्रिय और मनकी अपेक्षा रखते हैं इन्द्रिय और मनकी सहायतासे मतिज्ञान प्रकट होता है तो भी जो कुछ हम आप जानते हैं, विकल्प न रखकर जानते हैं, जितने क्षणको विकल्प नहीं होते उतने क्षणको कुछ इन्द्रिय मनके निमित्तसे जाना गया है वह सब मतिज्ञान है, जहां उसमें विकल्प हुआ कि श्रुतज्ञान बन जाता है। खम्भेको देखते ही जो कुछ ज्ञान हुआ, यह खम्भा है यह हरा है पर जो यह हरा है, ऐसा नाम लेकर ज्ञानमें आया तो वह मतिज्ञान नहीं है। उससे पहिले

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मतिज्ञान हो चुका था। अब यह श्रुतज्ञान हो रहा है। अवधिज्ञान आदिमें भी स्वपरप्रकाशकता है और मति श्रुतज्ञानमें भी स्वपरप्रकाशकता है। तो ज्ञान सूक्ष्म स्वपरप्रकाशक हुआ करता है। अपने आपमें ऐसी प्रतीति करिये कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। केवल ज्ञानस्वरूप ध्यानमें रहेगा तो वहाँ आत्माका अनुभव जगेगा। आत्मानुभव हुआ कि संसारसे वह अवश्य छूटेगा यह उसका नियम बन जाता है। अपने आपको मात्र ज्ञानस्वरूप निहारते रहो। जो ज्ञानमें है वह तो मेरा ज्ञान है, जो ज्ञानमें आता है वह है हमारे ज्ञानकी ज्ञेयाकार पर्याय। जो स्वपरप्रकाशक ज्ञानमात्र अपनेको निहारे, बराबर भावना करे, देहसे भी न्यारा केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा ज्योतिस्वरूप हूँ, यों केवल ज्ञानात्मक अपने आपको अनुभवनेसे संसारके संकट दूर होने लगते हैं।

ज्ञानको अस्वसंवेदी माननेपर पदार्थज्ञप्तिकी असिद्धि—सिद्धान्त तो यह है कि जिस किसी भी जीवको जिस किसी भी पदार्थके सम्बन्धसे ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान खुदको जानता हुआ पर पदार्थको जाना करता है। किन्तु, वहाँ शङ्काकार यह सिद्धान्त रख रहा है कि पदार्थका जो ज्ञान होता है वह ज्ञान खुदको नहीं जानता किन्तु उस ज्ञानको जाननेके लिए एक दूसरा ज्ञान उत्पन्न करना होता है। खुदको जाननेका नाम है प्रत्यक्ष, न जाननेका नाम है परोक्ष तो उनसे पूछा जारहा है कि हम लोगोंको जो पदार्थका ज्ञान होता है उस ज्ञानको जाननेके लिए जो दूसरा ज्ञान बनाना पड़ता है वह प्रत्यक्ष है या अप्रत्यक्ष ? यदि प्रत्यक्ष है तो वह अपने आप है या नये ज्ञानसे है। यदि दूसरा ज्ञान अपने आप ही प्रत्यक्ष बन गया, ग्रहणमें आ गया, जान लिया गया तो प्रथम ही अर्थज्ञान क्यों न स्वयं प्रत्यक्ष मान लिया जाय ? यदि कहो कि यह दूसरा ज्ञान भी तृतीय ज्ञानसे जाना जाता है तो तृतीय ज्ञान फिर चतुर्थ ज्ञानसे जाना जाय। यों अनवस्था दोष होगा। यदि कहो कि द्वितीय ज्ञान ग्रहणमें न आकर भी प्रथम ज्ञानको जाना करता है तो जो स्वयं अप्रत्यक्ष है ऐसे द्वितीय ज्ञानसे अथवा किसी अन्य आत्माके ज्ञानसे अन्य आत्माका ज्ञान क्यों नहीं जान लिया जाता क्योंकि वह तो बिना ग्रहण किए ही जानने लगा। यदि कहो कि अपने ही ज्ञानके स्व विषयमें जो ग्रहण हो वे उसका नाम ग्राहकपना है, यों अर्थज्ञान भी अन्य ज्ञानसे न ग्रहणमें आये और अपने विषयमें ग्राहक बन जाय। प्रयोजन यह कि जो भी ज्ञान बनता है किसी पदार्थको जानने वाला वह ज्ञान खुदको जानता हुआ जाना करता है। एक ही रीति है ज्ञानके परिणामकी। अंधेरेमें रहकर कोई ज्ञान पदार्थोंको नहीं जाना करता है। उस ज्ञानकी तो स्वयंको प्रतीति होती है।

अग्रहीत ज्ञानसे पदार्थज्ञान माननेपर अनुमानकी असिद्धि—यहाँ यह बात सिद्ध की गई है कि ग्रहणमें न आये ज्ञान तो वह पदार्थको नहीं जान सकता। इसपर शङ्काकार यह कह रहा था कि नहीं, जिस ज्ञानसे पदार्थको जान रहे हैं वह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हमारे ज्ञानमें न आये तो भी पदार्थको जानते हैं, यदि ऐसा कहोगे तो फिर हेतु, शब्द, सदृशता ये कुछ भी ग्रहणमें न आयें फिर भी सब अनुमान आदिकसे जान लो। जब ज्ञान हमारे ग्रहणमें नहीं आये और पदार्थोंको जानते रहे हैं तो धुवाँ जाननेमें न आये फिर भी अग्निको जान लिया जाय, क्योंकि अब तो अज्ञात ज्ञान भी पदार्थको जानने लगे। यदि यह कहो कि दोनों बातें पाई जाती हैं कोई चीज ग्रहणमें न आकर जान नहीं सकते। जैसे साधन धुवां आदिक ग्रहणमें न आये तो अग्नि आदिकका ज्ञान नहीं किया जा सकता, पर पदार्थको जानने वाला ज्ञान ग्रहणमें न आये तब भी पदार्थको जानता है। तो समाधानमें कहते हैं कि यदि हम ऐसा कहने लगे अर्थात् ये धुवाँ आदिक ग्रहणमें न आये तब भी जाना और अर्थ ज्ञान किया तब भी जाना तो इसमें क्या आपत्ति। आ गया ज्ञान ग्रहणमें आकर ही पदार्थको जानता है। जैसे धूम आदिक जानकर ही अग्नि जानी जा सकती है। देखो चक्षु आदिक तो अज्ञात होकर भी पदार्थको जानते हैं वहाँ ऐसी ही विधि है पर ज्ञान अज्ञात होकर पदार्थको नहीं जान सकता। ज्ञानका ज्ञान ज्ञात होकर ही अर्थात् जानकर ही अपने विषयको जान सकता है क्योंकि वह ज्ञान है। यदि अप्रत्यक्ष भी विधि ज्ञानसे अर्थज्ञानकी प्रत्यक्षता हो जाय तो जो नहीं जाना गया ईश्वर ज्ञान उसका भी कुछ प्रत्यक्ष करले अथवा उस के द्वारा कोई अप्रत्यक्ष हो जाय तो यह सब अव्यवस्थित हो जायगा। प्रत्येक जीव ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानका प्रकाश इस ही तरह फैलता है कि वह ज्ञान खुदको जानता हुआ अन्य समस्त पदार्थोंको जाना करे।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमें तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताका शङ्काकार द्वारा प्रस्ताव – यदि प्रथम ज्ञान तो जाने चौकी आदिको और चौकी आदिको जानने वाला ज्ञान जाना जाय दूसरे ज्ञानसे तो वह दूसरा ज्ञान जाना जाय तीसरे ज्ञानसे कि यह ज्ञान सही है, तीसरा ज्ञान भी सही है यह जान जाय चतुर्थ ज्ञानको यों अनवस्था दोषका बहुत बड़ा प्रसङ्ग होता है। अब इस सम्बन्धमें शङ्काकार यह कहता है कि अनवस्थाकी क्या बात इसमें? सिर्फ दो ज्ञानोंकी जरूरत है। पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको और दूसरे ज्ञानसे जाना पदार्थके ज्ञानको कि यह ज्ञान सही है, तीसरेकी आवश्यकता ही नहीं, फिर अनवस्था दोष क्या आयगा? जब पदार्थके जाननेकी इच्छा हुई लो पदार्थका ज्ञान हो गया और उस ज्ञानके जाननेकी इच्छा हुई कि यह जो पदार्थ का ज्ञान किया गया यह ठीक है या नहीं? तो उसको समझनेके लिए दूसरा ज्ञान बना। अब उसके आगे कोई जरूरत है ही नहीं। काम सारा बन गया। पदार्थको ज्ञान लिया और पदार्थके जानने वाले ज्ञानको भी ठीक कर लिया। अब अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं तो अनवस्था दोष कैसे आयगा? यह कहना ठीक नहीं क्योंकि तृतीय ज्ञान न बने तो द्वितीय ज्ञानका ग्रहण न हो तो वह प्रथम ज्ञानको कैसे जानेगा? अनवस्था दोष मिटाया नहीं जा सकता और ज्ञानको ही मान लीजिए दीपककी तरह कि अपनेको भी प्रकाश करदे और परको भी प्रकाश करदे। तब वहां कोई आपत्ति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं रहती। ज्ञान स्वपरव्यवसायी होकर ही प्रमाण बन सकता है अन्यथा प्रमाण नहीं हो सकता।

अस्वसंविदित ज्ञानवादमें तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताके कारणके सम्बन्धमें चार विकल्प—अच्छा यह बतलावो कि तुमने दो ज्ञान भर माने, पहिला ज्ञान। दूसरा ज्ञान। पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको और दूसरे ज्ञानसे जाना इस ज्ञान की सच्चाईको कि यह मेरा ज्ञान ठीक है। इसके आगे फिर दूसरे ज्ञानको जाननेके लिये तृतीय आदिक ज्ञानकी जरूरत नहीं है; अनवस्था नहीं होती। तो यह बतलावो कि तृतीय ज्ञानकी जरूरत नहीं रही या उत्पन्न नहीं हुआ तो क्यों नहीं हुआ। क्या पहिले ज्ञानसे जाना पदार्थको फिर दूसरे ज्ञानसे जाना इस ज्ञानको। बहुत शक्ति लगानी पड़ी सो इतनेसे ही थक गया। अब तृतीय ज्ञान लगानेकी जरूरत नहीं रही। पदार्थको जाननेके लिये एक ज्ञान और बना लो, बस इसके आगे अन्य ज्ञान मत पैदा करो। फिर किसी दूसरे तत्त्वको जानने चलें वहाँ भी ज्ञान बना लो। दो ज्ञानोंका हुक्म है ऐसी ईश्वरने कोई रोक लगायी है क्या अथवा पदार्थको जान लिया और पदार्थको जानने वाले ज्ञानको भी दूसरे ज्ञानसे जान लिया अब इतनेमें किसी अन्य विषयपर ज्ञान पहुंच गया तो अन्य विषयोंमें ज्ञान ले जानेसे अब तृतीय ज्ञानकी जरूरत नहीं रही। क्या इस तरह विषयान्तरके संचारसे अनवस्था मिट जायगी अथवा भाग्य ही ऐसा है जिसके कारण दो ज्ञान तो पैदा होने लगते हैं फिर और ज्ञान नहीं बनता। किस तरहसे अनवस्था दोष मिटावोगे ? इसमें ये चार विकल्प रखे। बात सीधी और स्पष्ट है। थोड़ा ध्यान देनेसे सुगम हो जायगी। बात वहाँ यह रखी है कि पहिले तो हमने जाना कि यह चौकी है फिर एक ज्ञानसे जाना कि हमने चौकीका ज्ञान किया तो कि वह ज्ञान सही है ? यों दो ज्ञान प्रत्येक जीवके होने ही पड़ते हैं तब पदार्थका निर्णय होता है, यह शङ्काकारका कथन है. और सभी जन यह कह रहे हैं कि जिस ही पहिले ज्ञानसे हमने चौकीको जान लिया वही पहिला ज्ञान चौकीको भी जान लेगा और खुदको भी जान लेगा। उसके लिये अन्य ज्ञानकी जरूरत नहीं होती। यदि अन्य ज्ञानकी जरूरत रहे तो फिर उसे जाननेके लिए भी अन्य ज्ञानकी जरूरत रही, तो यों अनवस्था होगा। उस अनवस्था दोषको दूर करनेके लिए शङ्काकारके ४ विकल्प हैं।

जिज्ञासाक्षयसे व ईश्वर द्वारा निवारणसे भी अस्वसंविदित ज्ञानमें तीसरे ज्ञानकी अनावश्यकताकी असिद्धि अब अस्वसंविदित ज्ञानकी अनवस्था दूर करनेके लिये दिये हुए विकल्पोंका निराकरण सुनो ! जिज्ञासाका क्षय होनेसे अनावश्यक होनेसे तृतीय आदिक ज्ञान नहीं बनते हैं. यह कहना यों युक्त नहीं है कि यदि तृतीय आदिक ज्ञान न बनें तो पहिला ज्ञान तो सिद्ध नहीं हो सका, तो वह अपने विषयोंको कैसे जाने ? तब पदार्थका ज्ञान ही नहीं हो सकता और फिर आत्मा तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नित्य है। नित्य पदार्थमें शक्ति कैसे मिट जायगी। शक्तिमें सदैव रहता है तो पैदा करते रहो ज्ञान। एक पदार्थको जाननेके लिये सारी जिन्दगी भर नये नये ज्ञान पैदा करते रहो। फिर तो यही व्यापार बन गया। यदि यह कहो कि ईश्वर रोक लगा देता है कि हे जगतके प्राणियो ! तुम लोगोंको दो ज्ञानोंका हुक्म है पहिले ज्ञानसे पदार्थको जान लो, दूसरे ज्ञानसे उस ज्ञानको ठीक करलो ? अरे वह ईश्वर तो कृत-कृत्य है। वीतराग है, उसको किन्हींकी व्यवस्थाकी किन्हींके ज्ञानोंके निवारणकी क्या जरूरत पड़ी है ? यदि कहा कि ईश्वरको परोपकारसे प्रयोजन है तो यह भी असंगत बात है। रोंक लगा दिया कि मत करो तीसरा ज्ञान, मगर द्वितीय ज्ञानके न जाने जानेसे प्रथम ज्ञान अज्ञात रहा, उससे फिर जीवोंका उपकार तो नही हो सकता, इस कारण ईश्वर द्वारा निवारणसे अनवस्था नहीं मिटती।

विषयान्तर सञ्चार और भाग्यसे भी अस्वसंविदित ज्ञानमें तृतीय ज्ञानकी अनावश्यकताकी असिद्धि—यदि कहो कि किसी विषयमें ज्ञान लग गया अब वह परम्परा मिट गई, उसके लिये अन्य ज्ञानकी जरूरत नहीं रही तो सुनो—विषयान्तर संचारका अर्थ यह है कि जिसका ज्ञान हम कर रहे थे उसको छोड़कर दूसरे ज्ञानमें लग जाये तो यह बतावो कि द्वितीय ज्ञानके होनेपर तृतीय ज्ञानका सन्नि-धान होना चाहिए ना। वह बना नहो, तो भले ही विषयान्तरमें ज्ञान चला जाय पर पहिला ज्ञान तो ठीक नहीं हो पाया। अनवस्था नहीं मिटती। यह मानना पड़ेगा कि पदार्थको जानने वाला ज्ञान खुदको जानता हुआ पदार्थको जानता है। यदि कहो कि प्राणीका भाग्य ही ऐसा है जिससे दो ज्ञान हो पाते, फिर अन्य ज्ञान नहीं बन पाते। अरे भाई इससे भी अच्छा तो यह है कि तुम प्रत्येक ज्ञानको स्वसम्वेदी मान लो। ज्ञानका स्वभाव ही ऐसा है कि वह खुदको जानते हुए पदार्थोंको जनाया करता है। मिथ्या अन्य अन्य कल्पनाएँ करनेसे क्या लाभ है ? यों अप्रत्यक्ष ज्ञानसे पदार्थकी सिद्धि न बन सकेगी। यदि ज्ञानको स्वसम्वेदी नहीं मानते, ज्ञान अपने आप ही अपने आपके स्वरूपका ग्रहण कर लिया करता है यों यदि ज्ञानको स्वपर प्रकाशक न मानोगे तो वह परपदार्थोंका भी प्रकाश नहीं कर सकता। प्रत्यक्षसे तो तुमने सिद्धि मानी नहीं अप्रत्यक्षसे भी न होगी, क्योंकि इसमें कोई हेतु नहीं है। इस कारण इन सब दोषोंको दूर करनेकी इच्छासे तुमको यह मानना चाहिए कि दीपक की तरह ज्ञानमें स्वपरप्रकाशन करनेकी दो शक्तियां पायी जाती हैं अन्यथा वस्तुकी कोई व्यवस्था न बन सकेगी।

आत्माको ज्ञानस्वरूप माने बिना आत्मा, मन और भाग्यकी भी असिद्धि—पदार्थ अपने स्वभावरूप होता है। आत्माका स्वभाव है ज्ञान। आत्मा ज्ञानरूप होता है और ज्ञानमें स्वपरप्रकाशनकी कला पड़ी है। अब जो लोग आत्माका स्वभाव ज्ञान नहीं मानते, किन्तु ज्ञानको एक उपाधिकी चीज मानते, वे प्रकृतिसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उत्पन्न हुआ ऐसा मानते । ज्ञान आत्मासे न्यारा है । ज्ञानका जब आत्मासे सम्बन्ध होता है तब आत्मा जाननहार बनता है । इसी प्रकार जो ज्ञानको और आत्माको जुदा जुदा माना करते हैं उनका न मन सिद्ध है न आत्मा सिद्ध है, न भाग्य सिद्ध है न व्यवस्था ।

प्रतीतिसिद्ध ज्ञानतत्त्वको विपरीत स्वरूपमें रखनेके प्रयासकी निष्फलता – मूलभूत घटनामें एक झूठ बात रखदी, उसकी सिद्धि करनेके लिये सब झूठ बातें गढ़नी पड़ती हैं । वह झूठ फिर कसौटीपर खरी नहीं उतरती है । प्रथम झूठ यह मान लिया गया कि ज्ञान जुदी चीज है आत्मा जुदी चीज है और वह ज्ञान आत्माको जब मिलता है तब आत्मा जानने वाला बनता है । पहिली झूठ तो यह कही गई, दूसरी झूठ यह उड़ायी गयी कि वह ज्ञान जो पदार्थको जानता है वह स्वयं अपने आपके ज्ञानस्वरूपको नहीं जान सकता । मैं यह ज्ञान सही हूँ ऐसा समझनेके लिये नया ज्ञान बनाना पड़ता है । दूसरी झूठ यह रखी गई, अब इस झूठका समर्थन किस प्रकार किया जा सकता ? जितनी भी युक्तियां दी जायेंगी वे सब सारहीन निकलेंगी । यों कुछसे कुछ कल्पनायें करके तो व्यवहार न बन सकेगा । सीधा सीधा काम चल रहा और अनुचित बात बनाकर व्यवस्था मिटाई जा रही है । कोई किसी बातकी कल्पनायें गढ़ ले और कुछसे कुछ कहे तो यह तो उसके मनकी बात है । जो ठीक सही व्यवस्था चल रही है उसके खिलाफ व्यर्थमें क्यों कल्पनायें उठाई जायें ? सब लोग जानते हैं, अनुभव करते हैं कि हम ज्ञानसे जानते हैं । बस एक ही ज्ञानसे काम बन जाता है । ज्ञानमें संशय आदिक कमी हो तो उसे दूर करनेके लिये अन्य ज्ञान बनाने पड़ते हैं, किन्तु प्रायः जो जानते हैं ठीक जानते हैं तो उस हीके ज्ञानसे पदार्थ भी ज्ञान लिया जाता और वह ज्ञान भी जान लिया जाता कि यह ठीक ज्ञान है । ज्ञानका स्वभाव है खुदको प्रकाशित करे और परको भी प्रकाशित करे । केवल परप्रकाशक ज्ञान हो यह बात नहीं है । केवल परप्रकाशक प्रदीप कही देखा गया ? जो खुद प्रकाशमान न हो वह दूसरेको क्या प्रकाशित करेगा ? तो सीधा सही जो रूप है ज्ञानका वही मान लेना चाहिये ।

प्रमाणस्वरूपका प्रतिपादन—इस ग्रन्थमें सर्वप्रथम सूत्रमें प्रमाणका स्वरूप कहा गया है । जो स्व और परका निश्चय करने वाला ज्ञान हो वह ज्ञान प्रमाण है । उस प्रमाणके स्वरूपको ठीक करनेके लिये अब तक प्रतिपादन चल रहा है । प्रत्येक विशेषणका समर्थन किया गया है । प्रमाण ज्ञान ही क्यों होता, अज्ञान प्रमाण क्यों नहीं होता ? यों नहीं होता कि ज्ञान ही हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेमें समर्थ है । अच्छे काममें लगा दे. बुरे कामसे हटा दे ऐसी कला है ज्ञानमें । और, यह ज्ञान इष्ट और अनिष्ट पदार्थका ज्ञान कर लेता है । अतएव पदार्थका व्यवसाय करने वाला और वह ज्ञान स्वका भी निर्णय रखता है । तो उन सब विश्लेषणोंमें इस समय

स्वसम्वेद्यका विश्लेषण किया जा रहा है। ज्ञान स्वका निश्चय रखता है, इसके विरोध में एक सिद्धान्त ज्ञानको सर्वथा परोक्ष मानता है और एक सिद्धान्त यह मानता है कि वह ज्ञान दूसरे ज्ञानके द्वारा जाना जाता है। लेकिन दोनों ही बातें सही नहीं हैं। सही यह तत्त्व है कि ज्ञान स्वको समझता हुआ पर पदार्थोंको जाना करता है। अपने आपका भी अनुभव करके देख लो — यदि ऐसा न होता तो पदार्थको जाननेके ही साथ सन्तोष क्यों हो जाता कि मैंने ठीक जाना। पदार्थोंको जाननेके सम्बन्धमें ऐसा अपने आपमें सन्तोष रहता है कि मैं ठीक रास्तेपर हूँ मैंने सही सही सब जाना है। यह अन्दरमें अनुग्रह रहता है। यह भी यहाँ सिद्ध करता है कि पदार्थका ज्ञान करते समय ही हम उस ज्ञानसे उस ही ज्ञानको जान जाया करते हैं कि यह ज्ञान सही है। इस तरह ज्ञान अपना स्वरूप समझता है और यह भी निर्णय रखता है कि ज्ञान स्वयंको भी जानता है और पर पदार्थोंको भी जानता है।

प्रकाशके स्वरूपके विकल्प उठाकर ज्ञानस्वरूपकी असिद्धिका प्रयास— ज्ञानका स्वरूप इस प्रसङ्गमें दृष्टान्तपूर्वक यों रखा गया था कि ज्ञान स्वपरप्रकाशक है, जैसे प्रदीप स्वपरप्रकाशक है। इसके विरोधमें शङ्काकार यह शङ्का रख रहा है कि वह स्वपरप्रकाशकपना क्या बोधरूप है या भासुररूप अर्थात् चमकरूप। यदि स्वपरप्रकाशकका अर्थ बोधरूप अर्थ करते हो तो यह बात दृष्टान्तमें नहीं पायी जाती अर्थात् प्रदीप बोधरूप स्वपरप्रकाशक नहीं है। जब दृष्टान्तमें साध्य नहीं रहा तब दृष्टान्त सही नही। और, यदि स्वपरप्रकाशकका भासुर रूप करते हो प्रकाशरूप, यहाँ भी चमक दमक होना यह अर्थ करते हो तो यह भासुररूपता ज्ञानमें सम्भव नहीं है तब साध्य कैसे बनेगा ? शङ्काकारने यह बात रखी कि स्वपरप्रकाशकका अर्थ तुम क्या करते हो स्व और परका प्रकाश करने वाला ? तो क्या स्व और परका प्रकाश ज्ञानरूपसे अर्थ लेते हो या जैसे प्रदीप उजेला करता है इस उजेला करने रूप अर्थ लगाते हो ? यदि ज्ञानरूप अर्थ लेते हो तो यह अर्थ दीपकमें घटित नहीं होता। दीपकमें ज्ञान कहाँ ? यदि उजेला ही अर्थ करते हो स्वपरप्रकाशकका तो उजेला ज्ञानमें नहीं पाया जाता। तब न समझना ठीक बैठा और न सिद्धान्त !

प्रकाशका सर्वसाधारण अर्थ—अब उक्त शंकाका उत्तर देते हैं कि प्रकाश का अर्थ है स्व और परको प्रकाशित कर दे, इतना ही अर्थ प्रकाशका है। अब यह प्रकटपना कहीं ज्ञानरूपसे है कहीं उजेलारूपसे है, पर मूल अर्थ तो स्वपरका प्रकट कर देना है। वह प्रकटन दोनों जगह पाया जाता है। भले ही ज्ञानमें बोधरूपसे है और प्रदीपमें उजेलाके रूपसे अतएव इसमें कोई विरोध नहीं आता। ज्ञान अपने द्वारा ही जाना जाता है। ज्ञानको जाननेके लिए नये ज्ञानके करनेकी जरूरत नहीं होती। इस प्रकरणका आज यह अन्तिम प्रसङ्ग है।

स्वसंविदित ज्ञानकी स्वप्रकाशक शक्तियोंको ज्ञानसे भिन्न और अभिन्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विकल्पितकर शंकाकार द्वारा ज्ञानकी स्वसंवेदिताके निराकरणका प्रयास—अब शंकाकार एक शंका रख रहा है कि यह बतावो कि ज्ञान स्व और परका प्रकाशक हैं तो क्या जिस स्वभावसे ज्ञान स्वका प्रकाश करता है और जिस स्वभावसे पदार्थका प्रकाश करता है ये जो ज्ञानमें दो स्वभाव हैं वे दोनों स्वभाव ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न? ज्ञान जिस शक्तिसे स्वको जाने और जिस शक्तिसे परको जाने ये दोनों शक्तियां क्या ज्ञानसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि कहो कि अभिन्न हैं तो अभिन्न होनेपर या तो स्वभाव ही रहेगा या ज्ञान ही रहेगा क्योंकि एक होनेसे, एक का दूसरेमें प्रवेश है। जिस किसी भी वस्तुका स्वरूप उस वस्तुसे अभिन्न है तो वस्तु और स्वरूप क्या जुदी चीज नहीं हैं ? किन्तु वस्तुमें स्वरूपमात्र है, क्योंकि अभिन्नमें एक दूसरेमें प्रविष्ट है। अलगसे किसी की सत्ता नहीं है। तो वे दोनों स्वभाव ज्ञानके अतिरिक्त जिस स्वभावसे स्वको जानें और जिस स्वभावसे परको जानें वे दोनों स्वभाव ज्ञानसे अगर अभिन्न हैं तो या तो ज्ञान ही ज्ञान मानो या वे दोनों स्वभाव ही मानो। फिर ज्ञानमें स्वपर प्रकाशक शक्ति है यह तो सिद्ध नहीं हो सका। यदि यह कहो कि ज्ञान जिस शक्तिसे खुदको जानता है और जिस शक्तिसे पर अर्थको जानता है वे दोनों शक्तियां ज्ञानसे भिन्न हैं तो प्रथम तो भिन्न होने पर यह इसकी शक्ति है यह ही कैसे बनेगा, और खैर मान लो तो यह बतावो कि वे दोनों शक्तियां स्वसम्विदित हैं या अपने आधारभूत ज्ञानसे विदित हैं ? ये दो प्रश्न शङ्काकारने किये हैं। यदि कहो कि वह शक्ति खुद अपने आपको जान लेती है तो वहाँ अब तीन स्वसम्वेदी ज्ञान हो गए। एक वह ज्ञान जो पदार्थको और अपने आपको जानता है और वे दोनों शक्तियां उस ज्ञानकी प्रकाशक हैं। जब तीनों ने अपने आपको स्वतः जान लिया फिर वहाँ कुछ भी यह प्रश्न करे कि दोनोंमें भी दो दो शक्तियां होगी, जिस शक्तिसे परको जाना तो उसमें भी प्रश्न बढ़ा लीजिए। यों कहीं ठहर न सका, सर्वथा दोष आयगा। यदि कहो कि वे शक्तियां आश्रयभूत ज्ञानको जान जाती हैं तो उन शक्तियोंके विषयमें भी फिर दो शक्तियोंकी कल्पना होगी। यों यहाँ कुछ भी व्यवस्था नहीं बन सकती। ऐसा शङ्काकार कह रहा है।

अनेकान्तवादमें भिन्नता और अभिन्नताके दोषका अनवकाश—अब उक्त शंकाका उत्तर देते हैं कि ये सब शंकाएँ तो तुम्हारे एकान्तमें सम्भव हैं, यहाँ अनेकान्तमें ये शंकायें स्थान नहीं पाती हैं। ज्ञानकी वे शक्तियां जिस शक्तिसे ज्ञानने स्वपरको जाना यह शक्ति ज्ञानसे कथंचित भिन्न और अभिन्न है अभिन्न तो प्रकट है वह शक्ति ज्ञानसे जुदी कुछ नहीं है, ज्ञानरूप ही है और चूँकि नाम दूसरा है प्रयोजन दूसरा है, स्वभाव स्वभाववानका व्यवहार है इस दृष्टिसे शक्तियां ज्ञानसे भिन्न हैं। और फिर यों अनर्गल प्रश्न करके कुछ भी तत्त्व नही बनाया जा सकता। जैसे तुम हाथसे कुछ काम करते हो तो वह हाथ तुमसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उससे काम नहीं कर सकते और यदि अभिन्न है तो हाथ रहेगा या तुम। यों भिन्न अभिन्न का प्रश्न बनाकर जिस चाहेका बिगाड़ कर लेनेसे व्यवस्था नहीं बन सकती। बतावो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तुम्हारी जिह्वा तुमसे भिन्न है या अभिन्न ? अगर भिन्न है तो तुम खा ही कैसे सकते। जीभ जुदा है तुम जुदा हो और यदि अभिन्न है तो जीभ रहे या तुम, फिर तुम खावोगे क्या ? भिन्न अभिन्नका प्रश्न करके तुम जिस चाहे कामको बिगाड़ दो पर यहाँ बिगाड़ उनका ही हो सकता है जो एकान्तवादी हैं, अनेकान्तमें तो सबके उत्तर मिलते हैं यह जिह्वा तुमसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न तो यों है कि हम तो हैं अङ्गी समस्त शरीर वाले और जिह्वा है एक अङ्ग। और, अभिन्न यों हैं कि हमारे शरीरसे अतिरिक्त कहीं जिह्वा नहीं पड़ी हैं।

ज्ञानकी स्वप्रकाशकताकी सिद्धि— भैया ! अनेकान्तमें तो सब समाधान मिल जायगा। भिन्नता व अभिन्नताका दोष तो एकान्तमें ही सम्भव है। स्वपरप्रकाश करनेका स्वभाव और स्वपरप्रकाश करने वाला ज्ञान इन दोनोंमें अभेद है क्योंकि स्व-परप्रकाशमय ही ज्ञान है और भेद भी है, क्योंकि यह तो स्वभाव बताया और वह है ज्ञानस्वभाववान। तो संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिसे भेद बनता है और स्वरूप चूंकि वही है इससे अभेद बनता है। अभेद यों है कि अपनेको और परको जाननेका जो स्वभाव है वह तो ज्ञानका सामर्थ्य है और सामर्थ्य परोक्ष हुआ करता है। शक्तिका किसे पता प्रत्यक्षरूपसे ? जैसे मान लीजिये किसी पुरुषमें दो हार्स पावरकी शक्ति है तो उसका प्रत्यक्षमें किसे पता ? वह शक्ति, वह सामर्थ्य तो परोक्ष है और उस शक्ति का जो विकास होता है वह प्रत्यक्ष होता है। समस्त भावोंकी सामर्थ्य क्रियाके द्वारा अनुमानमें आती है। लो इस मोटरमें २५ घोड़ोंकी शक्ति है। अरे, दिखावो तो सही कि कहाँ वह शक्ति है ? तो वह शक्ति प्रत्यक्ष नहीं है, उसे तो क्रियारूपमें दिखाकर बताया जा सकता है। और, फिर यह तो ज्ञानका स्वरूप बताया है कि ज्ञान स्वपर-प्रकाशक है, किन्तु जो मोही जीव हैं, छद्मस्थ ज्ञानी जीव हैं उनके अन्तरङ्ग और बहि-रङ्ग अर्थ एकान्तसे प्रत्यक्ष नहीं है पर स्वरूपमें वे भी प्रत्यक्ष हैं। अतएव प्रमाणको, ज्ञानको स्वपरप्रकाशक ही मानना चाहिए। ज्ञान परका ही प्रकाश करता है स्वयंका नहीं, यह बात युक्त नहीं बैठती। इस तरह प्रमाणके स्वरूपमें प्रतिलोप क्रिया से अर्थात् प्रमाणके स्वरूपका जो वाक्य बनाया उसमें जो अन्तिम शब्द है पहिले उसका विवेचन, फिर उसके पीछेका जो शब्द है उसका विवेचन, इस तरह सबका विवेचन किया और अन्तमें आदि अक्षर जो स्व है उसका विवेचन चला कि ज्ञान स्वका प्रकाशक है, इसी अर्थका समर्थन करते हुए आचार्यदेव दो सूत्रोंमें करते हैं :—

को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छंस्तदेव तथा नेच्छेत् ॥ ११ ॥

प्रदीपवत् ॥ १२ ॥

ज्ञानस्वरूपके स्वसंवेदनका दृष्टान्तपूर्वक समर्थन— कौन ऐसा पुरुष है— लौकिक हो, परीक्षक हो, ऐकान्तिक हो, दार्शनिक हो, कौन ऐसा पुरुष है जो ज्ञानके

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

द्वारा प्रतिभासमें आने वाले पदार्थोंको तो प्रत्यक्ष स्पष्ट मानें और उस ज्ञान को प्रत्यक्ष न मानें जिस ज्ञानके द्वारा पदार्थ प्रत्यक्षमें आये, अर्थात् ऐसा कोई बुद्धिमान पुरुष न होगा। जैसे प्रदीप को कोई यों मान लेगा कि भाई प्रदीपके द्वारा ये पदार्थ तो प्रकाश में आ गये पर दीपक प्रकाशमें नहीं आया, खुद प्रकाशमें न आये हुए अर्थात् खुद प्रकाश रूप जो नहीं है ऐसा किसी पदार्थके द्वारा क्या पर पदार्थ प्रकाशमें आ सकते हैं ? नहीं आ सकते। तो ऐसा कोई पुरुष नहीं हैं जो यह मान सके कि जिसके द्वारा प्रतिभास हो रहा पदार्थका, सो पदार्थ तो प्रकट है, स्पष्ट है, समझमें है और जिसके द्वारा समझ बनी है वह अत्यन्त परोक्ष है, उसका ज्ञान होता ही नहीं। यह बात कोई नहीं मान सकता प्रत्येक विवेकी जीव जैसे प्रदीप को स्वपर प्रकाशक मानते हैं इसी प्रकार अपने आपका जाननहार होकर ही पर पदार्थोंको जानता है।

ज्ञानमय निजतत्त्वके ज्ञानकी स्वतः सिद्धता—देखिये, अपनी बात अपने में अपनेपर गुजरती है। और, वह अपनेको भली तरह विदित होती है। जैसे सुखका भान तो न हो और हम सुखी हो जाये ऐसा कहीं हो सकता है, अथवा दुःखका अनुभव तो न हो और दुःखी कहलायें तो यह कैसे हो सकता है। ज्ञानका जानन अनुभवन हमपर हो नहीं और जान जायें कि हमें पर पदार्थोंका ज्ञान उत्पन्न हुआ है ऐसा कोई नहीं मान सकता। तो चूँकि जो स्वप्रकाशी है वही परप्रकाशक होता है इस कारण इस अर्थमें, इस प्रसङ्गमें प्रदीपको दृष्टान्तरूपमें रखा है। इस प्रदीपकी बातको लौकिक जन भी मान लेंगे और परीक्षक भी। किसी भी घटनाको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त वह दिया जाता है जिसको समझाना है वह भी विवादरहित मान ले और जो समझा रहा है वह तो मानता ही है। हां जिस बातको सिद्ध करनेके लिये दृष्टान्त दिया जाता उसको प्रतिवादी नहीं मान रहा है पर जो दृष्टान्त देकर मनाया जाय, दृष्टान्त दोनोंको सम्मत होना चाहिए। प्रदीपमें अथवा समस्त पदार्थोंमें यह खासियत है कि अपने आप का प्रकाश करते हुए ही परका प्रकाशक होता है। जैसे प्रदीपके निकट प्रकाशता हुए बिना प्रदीपके द्वारा प्रतिभासित बाहरी पदार्थ न बन सकेंगे इसी प्रकार प्रमाणभूत ज्ञानकी प्रत्यक्षता आये बिना ज्ञानके द्वारा प्रतिभासित पदार्थकी प्रत्यक्षता, स्पष्टता नहीं बन सकती।

ज्ञानमें ही प्रमाणत्वकी सिद्धि—इस परिच्छेदमें अब तक यह सिद्ध किया गया है कि प्रमाण क्या होता है, कैसा होता है ? उसका लक्षण बताया है कि जो स्व और अपूर्व अर्थका निश्चय कराये वह ज्ञान प्रमाण होता है। वाक्य कितना छोटा है। स्व अपूर्व अर्थका प्रकाश करे—वह ज्ञान प्रमाण है ये ५ शब्द हैं प्रमाणके स्वरूप में। उन ५ विशेषणोंको सिद्ध करनेके लिये अब तक इसका कथन हुआ है। प्रतिलोम पद्धतिसे विचार करो, ये ५ शब्द मान लीजिए, जिसका स्वरूप कहा जा रहा है उस को भी मान लीजिए प्रमाण ज्ञान ही होता है अज्ञान नहीं। आप सोचते होंगे कि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

क्या कोई लोग अज्ञानको भी प्रमाण कहते हैं जिससे यह जोर दिया जा रहा है कि प्रमाण ज्ञान ही होता अज्ञान नहीं होता, हाँ मानते हैं बहुतसे लोग । व्यवहारीजन भी इतना तो मानते हैं । कोई जज पूछता है कि यह मकान तुम्हारा है इसका प्रमाण क्या है ? तो झट रजिस्ट्री किया हुआ कागज आगे रख देते हैं और कहते हैं कि यह प्रमाण है अथवा द्वारसे जाकर कोई गवाह बुला लाते हैं और कहते हैं कि यह गवाह प्रमाण है । अरे ये कागज और गवाह दोनों अप्रमाण हैं । हाँ कागज और गवाहको देखकर जजमें जो ज्ञान बना वह प्रमाण है । गवाहके द्वारा कहे हुए वे वचन भी प्रमाण नहीं है, वे वजन भी अज्ञान हैं । प्रवाणके लिये अनेक अजीव सामने रख देते हैं और कहते हैं कि यह प्रमाण है । अरे वह प्रमाण नहीं हैं ।

स्वपरव्यवसायी ज्ञानमें प्रमाणत्वकी सिद्धि – प्रमाण तो ज्ञान ही होता है । और, वह ज्ञान निश्चयात्मक होता है । संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय ये प्रमाण नहीं हैं और वह प्रमाण पदार्थका निश्चयात्मक होता है । अरे, तो क्या कोई लोग ऐसा भी मानते हैं कि जो पदार्थका निश्चय वाला ज्ञान न मानें ? हाँ, हैं कुछ सिद्धान्त, वे मानते हैं कि पदार्थका तो निश्चय होता ही नहीं, विश्वमें पदार्थ है ही नहीं । जो कुछ है वह ज्ञान ही ज्ञान है । ज्ञान ज्ञानका ही निश्चय करता है । इस समस्याको सुलझाने के लिए पदार्थका निश्चय बताया है और वह पदार्थ अपूर्व होता है । एक चौकीको हम ५० बार रटते हैं—चौकी, चौकी तो यह ज्ञान प्रमाण नहीं बताया । तुमने जो जान लिया पहिले वह प्रमाण है । अब उसका ही प्रलाप करते रहना तो तुम्हारी उद्दण्डता है । धारावाही ज्ञान प्रमाण नहीं है । और, फिर वह ज्ञान स्वका निश्चय करे सो प्रमाण है । अनेक लोग ज्ञान ज्ञानका निश्चय नहीं रखता ऐसा मानते हैं । किन्तु जो ज्ञान खुदका भान रखता है उसी ज्ञानके द्वारा परपदार्थोंका भान हुआ करता है । इस प्रकार यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपका वर्णन किया गया है जिस प्रमाणके द्वारा प्रतिवादीके अपसिद्धान्तकी खोटी मान्यताओंका निराकरण किया जायगा । यहाँ तक प्रमाणके स्वरूपका वर्णन हुआ, अब आगे प्रमाणकी प्रमाणता कैसी होती है ? इस का वर्णन किया जायगा ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com